धर्मप्रेमी बन्धुओ! यदि आप सरलतासे आध्यात्मिक ज्ञान व विश्रा[illegible] चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज[illegible] इन प्रवचन और निबन्धोंको अवश्य पढ़िये। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वा[illegible] है कि इनके पढनेसे आप ज्ञान और शान्तिकी वृद्धिका अनुभव करेंगे।

अध्यात्मग्रन्थ सेट

आत्मसंबोधन सजिल्द	१॥।)
सहजानन्द गीता सार्थ सजिल्द	१)
सहजानन्द गीता सतात्पर्य स०	२।)
तत्त्व रहस्य	१)
अध्यात्मसहस्री	१)
अध्यात्मचर्चा बड़ी	॥।=)
अध्यात्मचर्चा छोटी	॥)
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका स०	३॥)
आत्म उपासना	।)
सामायिक पाठ	–)
स्वानुभव	=)
अध्यात्मसूत्र सार्थ	≡)
तत्त्वसूत्र सभावार्थ	।=)
एकीभाव स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	।)
कल्याणमन्दिर स्तोत्र अध्या०	।)
विषापहार स्तोत्र अध्यात्मध्वनि	।)
समयसार भाष्य पीठिका	।–)
समयसार महिमा	।)
समयसार दृष्टान्तमर्म	॥)
सहजानन्द डायरी १९५६	२)
सहजानन्द डायरी १९५७	२)
सहजानन्द डायरी १९५८	१॥)
सहजानन्द डायरी परि० १९५९	॥)
भागवत धर्म	
मनोहर पद्यावलि	।
स्तोत्र पाठ पुञ्ज	।
सूत्र गीता पाठ	।

यह सेट लेने पर = प्रति रु० कमीश[illegible]

अध्यात्म प्रवचन सेट

धर्मप्रवचन	१)
सुख कहां	॥)
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग	३)
प्रवचनसार प्रवचन द्वितीय भाग	४)
प्रवचनसार प्रवचन तृतीय भाग	२)
प्रवचनसार प्रवचन चतुर्थ भाग	३)
अध्यात्म सूत्र प्रवचन पूर्वार्द्ध	३)
अध्यात्मसूत्र प्रवचन पूर्वोत्तरार्द्ध	३)
देवपूजा प्रवचन	३)
श्रावकषट्कर्म प्रवचन	१)
दार्शनिक सरल प्रवचन	।)
समयसार प्रवचन प्रथम पुस्तक	३)
समयसार प्रवचन द्वितीय पुस्तक	२)
समयसार प्रवचन तृतीय पुस्तक	२)
समयसार प्रवचन चतुर्थ पुस्तक	२)
वर्णी प्रवचन फाइल प्रथम	५)
" " द्वितीय	५)

यह सेट लेने पर =) प्रति रु० कमीशन
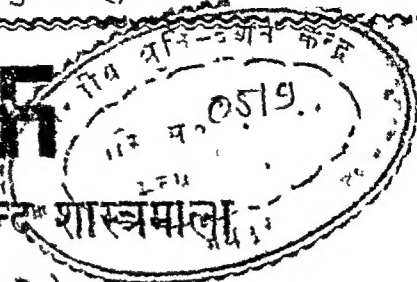
श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(७३)

सहजानन्द डायरी

लेखक—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सपादक —

महावीरप्रसाद जैन बैंकर्स सदर मेरठ।

प्रकाशक —

खेमचंद जैन सराफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

न्योछावर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री लाला महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाल के प्रवर्तक महानुभावो की नामावलि:—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

(२) श्री ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून

(३) श्री सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

(४) श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह

(५) श्री ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर

(६) श्री ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी मेरठ

(७) श्री ला० सलेकचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर

(८) श्री ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून

(९) श्री ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी

(१०) श्री ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर

(११) श्री ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी

(१२) श्री सेठ गैन्दामल दगडू शाह जी जैन, सनावद

(१३) श्री ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी जैन, नई मण्डी मुजफ्फरनगर

(१४) श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून

(१५) श्री ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ

(१६) श्री मन्त्री जैन समाज, खण्डवा

(१७) श्री ला० बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन, तिस्सा

(१८) श्री बा० विशालचन्द जी जैन आ० मजि०, सहारनपुर

(१९) श्री बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा

(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर

(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज

(२२) ,, मथ्राणी जैन महिला समाज, गया

(२३) श्रीमान सेठ मागरमल जी पाण्ड्या, गिरीडीह

(२४) ,, बा० गिरनारी लाल चिरंजीलाल जी जैन, गिरिडीह

(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मन्डी मुजफ्फरनगर

(२७) ,, ला० सुखवीर सिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ, बड़ौत

(२८) सेठ छदामीलाल जी जैन, फिरोजाबाद

(२९) ,, सेठ गजानन्द गुलाब चन्द जी जैन, गया

(३०) ,, बा० जीतमल शान्ति कुमार जी छाबड़ा, झूमरीतिलैया

(३१) ,, सेठ शीतल प्रसाद जी जैन, सदर मेरठ

(३२) ,, सेठ मोहन लाल ताराचन्द जी जैन, बड़जात्या जयपुर

(३३) ,, बा० दयाराम जी जैन R. S D. O, सदर मेरठ

(३४) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ

(३५) ,, ला० जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दन कुमार जी जैन, सहारनपुर

(३६) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन रुड़की प्रेस, रुड़की

(३७) ,, ला० जिनेश्वर लाल श्रीपाल जी जैन, शिमला

(३८) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोट— जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावो की स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा उनके रुपये अभी नहीं आये आने हैं, श्रीमती कल्लोबाई जी धर्मपत्नि सि० रतनचन्द जी जैन जबलपुर ने सहायक सदस्यता स्वीकार की है।

ॐ नम सिद्धेभ्य , ॐ नम सिद्धेभ्य , ॐ नम सिद्धेभ्य.

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

हू स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

(१)

मै वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान॥

(२)

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

(३)

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान॥

(४)

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहूँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

(५)

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहू "अभिराम" ॥

॥ अहिंसा धर्म की जय ॥

सहजानन्द डायरी १९५८

१ जनवरी १९५८

मुझमे नवीन वर्ष का उदय हो तो मेरेलिये यह वर्ष मंगलरूप है।

सकट व सघर्ष तो ससारमे आते ही है उनसे न घबड़ाना और निज—मगल पथमे कदम बढाना ही तो वीरता है।

२ जनवरी १९५८

श्वास २ प्रकारका है आभ्यन्तर नि सरण व वाह्य नि सरण। आभ्यन्तर नि सरण तो नाडीका चलना है, वाह्य नि सरण नाक छीद्र द्वारा वायुका निकलना है। अभ्यन्तर नि सरणरूप श्वास तो ४८ मिनट मे ३७७३ हो जाते है जिसका तात्पर्य यह निकला कि

४८) ३७७३ (७८
३३६
———
४१३
३८४
———
२९

एक मिनटमे ७८॥ वार नाडी चले तो वह निरोग पुरुषका लक्षण है।

वाह्य नि सरणरूप श्वास ४८ मिनट मे ७२० होते है जिसका तात्पर्य यह निकला कि ४८) ७२० (१५
४८
———
२४०
२४०
———

एक मिनटमे १५ वार श्वास निकले तो वह निरोग पुरुषका लक्षण है। याने ४ सेकिण्डमे एक श्वास सहज भावमे निकलता रहता है। श्वास साध कर निकले उसे ग्रहण नही करता है।

साधकर निकले उसको यहा ग्रहण नही करना ।

इन आभ्यन्तर व वाह्य श्वासोंसे यह मनुष्य अपना भाव पूरा कर रहा है । आयुनिषेकक्षयकी वात तो समय समयमे हो रही है, इसदृष्टिसे तो निरन्तर मरण हो रहा है उसे कुछ भी नही सोचता और ससारको लम्वा कर रहा है मोही जीव ।

३ जनवरी १९५८

एक मुहूर्तमे २ घडी होती हैं । एक घडीमे २४ मिनट होते हैं । एक घडीमे ४८।। लव होते हैं । एक लवमे ७ स्तोक होते हैं । एक स्तोक-मे ७ श्वास होते हैं । यहां श्वाससे तात्पर्य नाडीसे है ।

७ × ७ = ४९ × ३८।। = १८८६।। × २ = ३७७३

३८।। × २ = ७७ × ७ = ५३९ × ७ = ३७७३

इस तरह ४८ मिनटमे ३७७३ वार नाडी चलनेका हिसाव हुआ ।

एक नाडीके समयमे जीव १८ वार जन्मा व मरा ऐसे भव जीवने अनन्त व्यतीत किये । कितने ही जीव अव तक ऐसा भव भोग रहे है । ससार-से निकलनेकी कला जरूर आ जानी चाहिये ।

४ जनवरी १९५८

मूर्तत्वका यह लक्षण भी सुघटित पुद्गलमे है कि पुद्गल परमाणु मिलकार स्कन्धरूप वन सकते हैं-उस शक्ति प्रभावको मूर्तत्व कहते हैं । पुद्गल-के सिवाय अन्य सव द्रव्योमे अमूर्तत्व है क्योकि जीव जीव मिलकर एक पिण्ड नही होते । धर्म, अधर्म अकाश तो एक ही हैं उनका पिण्ड भी नही होता । काल द्रव्य भी मिलकर एक पिण्ड नहीं हो सकते ।

मूर्तत्वके इस अर्थसे व्यावहारिक प्रयोग भी सुघटित हो जाते हैं ।

५ जनवरी १९५८

जीव जव विषयकषायसे मुक्त होता है उस ही समय शान्त और सुखी हो जाता है ।

करनीका फल आत्माको उसी समय मिलता है। ऐसा नही है कि करे कभी और फल मिले कभी। जिस समय जीव अज्ञान परिणमन करता है उसी समय आकुलता भी भोगता है और जिस समय यह ज्ञान परिणमन करता उसी समय निराकुलतामय आनन्दको भोगता है।

६ जनवरी १९५८

विकल्प सब निष्प्रयोजन है। निर्विकल्प होनेके लिये जो तैयारी है वहा भी होने वाला विकल्प यद्यपि निर्विकल्प दशा पैदा करनेकेलिये उत्पन्न हुआ होनेसे प्रयोजनवान कहलो तथापि विकल्पके कालमे आकुलता करने वाला होनेसे निष्प्रयोजन है।

लौकिक विकल्पोको तो प्रत्यक्ष ही आजमा लो सब निष्प्रयोजन है। कुछ विकल्पोके वारेमे ऐसी प्रतीति तो देरमे होती है और कुछ विकल्पोके वारे मे ऐसी प्रतीति जल्दी भी हो जाती है।

विकल्पसे छूटकर निर्विकल्प तत्त्वमे पहुचा हुआ उपयोग स्वय मोक्ष मार्ग है।

७ जनवरी १९५८

प्रिय आत्मन् ! हैरान मत होओ तुम तो कृतकृत्य हो, वताओ क्या काम पडा तुम्हे करनेको। वाह्यमे तो कर ही क्या सकते हो अन्तरगमे भी करना क्या है सिवाय जानवर बने रहने के। मान लो यह सीख, छोड़ दो सव विकल्पजाल। करलो वह अपूर्व पुरुषार्थ जो अब तक किया भी न गया हो।

एक अणुमात्र भी चाह क्लेशकेलिए है फिर चाहका व्यामोह क्यो हो ? कुछ न चाहो इसीमे आत्माका विजय है।

यदि यह स्थिति होनी है तो गाँवमे रहा क्यों जायगा। वह तो एकान्त गुफा आदिमे रहेगा ऐसी आशका होती है। सही उत्तर क्या है सो पाठक भी अपनी रुचि व वूद्धि के अनुसार सोच लेवे।

८ जनवरी १९५८

सव से थोडे—द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमक जीव है।

उनसे अधिक—क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमक जीव है।
,, ,, क्षपक जीव
उनसे अधिक—उपशमसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसयत जीव
,, ,, उपशम सम्यग्दृष्ठि अप्रमत्तसयत जीव
,, ,, क्षायिक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसंयत जीव
,, ,, क्षायिक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसंयत जीव
,, ,, वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसयत जीव
,, ,, वेदक सम्यग्दृष्टि प्रमत्तसयत जीव
,, ,, क्षायिक सम्यग्दृष्टि सयतासयत जीव
,, ,, उपशमसम्यग्दृष्टि सयतासयत जीव
,, ,, वेदक सम्यग्दृष्टि सयतासयत जीव
,, ,, सासादन सम्यग्दृष्टि जीव
,, ,, सम्यग्मिथ्या दृष्टि जीव
,, ,, उपशमसम्यग्दृष्टि अविरत सम्यक्त्व गुण०
,, ,, क्षायिक सम्यग्दृष्टि अविरत सम्यक्त्व गुण०
,, ,, वेदक सम्यग्दृष्टि अविरतसम्यक्त्व गुण०
,, ,, सिद्ध जीव
,, ,, मिथ्यादृष्टि जीव

६ जनवरी १९५८

धर्म भावोके लिए वृद्धिगत उत्साहसे पूरित रहना चाहिए। विप का पता तो नही, अथवा सभावना तो है कि कब कैसी विपदा आजावे अचानक मृत्यु आजावे, फिर क्या किया जायेगा।

प्यारे अवशिष्ट इस मनुष्य जीवनसे लाभ तो उठालो। अनादि अ इस ससारमे नाना योनिमे भ्रमण कर कठिनाईसे यह नर तन पाया है इसे पाकर धर्म लाभ न लिया तो फिर और कैसा अवसर पावोगे।

दृढ आग्रहकर, विषयोमे लालसा न रखूगा विषयकी ओर चित्त ही लगाऊगा कषायको स्थान न दूगा। पर वस्तु चित्तमे आती हो उसे चित्त मे स्थान न दूगा।

किस पर वस्तुसे मेरा हित होना है। सर्व प्रकट अहित है। हित तो आज जितना मेरा उपयोग निज द्रव्य स्वभाव पर हे उतना व्यवसाय है।

हमारे उपयोगमे या तो पच परमेष्ठीका स्वरुप व गुणस्मरण वसो या या फिर निज शुद्धात्मतत्व वसो। इन दोनोमे साक्षात् हित तो निज शुद्धात्म-तत्वदृष्टि है और इसके साधक रुपमे परमेष्ठि गुणस्मरण है।

एतदर्थ हमारी प्रवृति ही ऐसी बन जावे कि अधिकसे अधिक समय, चलते उठते, वैठते खाते पीते कार्य करते हुए जव चाहे णमोकार मन्त्र का स्मरण होता रहे।

१० जनवरी १६५८

सत्य कटु होता है ऐसी लोकमे उक्ती है। यह केवल उन्ही लोगो पर चरितार्थ है जिनके सत्यकी रुचि नही है। वास्तवमे तो सत्य मधुर ही होता है। सत्यकी दृष्टि सत्यके अनुकूल वर्ताव, सत्यकी निमग्नता ये सभी आनन्द ही देने वाले और आनन्द ही वढाने वाले है।

ससारमे भटकते हुए जीवोको सत्य ही शरण है। किस ओर दृष्टि देना उत्तम है ऐसी विवेकपूर्ण खोज करने वालोको सत्य ही लोकोत्तम है। जिन जीवोका भला होना हे उनका सत्य ही मङ्गल हे।

११ जनवरी १६५८

सचमुच शब्द कवसे चल पडा है। इसमे २ शब्द है सच और मुच। सचका अर्थ तो है सत्य और मुच का अर्थ है मुञ्च। अब सचमुचका अर्थ हुआ सत्य मुञ्च याने सच छोड दो। "सचमुचमे ऐसी वात है।" ऐसा कोई कहे तो इसका भाव है सच छोड दो तो ऐसी बात है।

दुहरी बोली भी उपेक्षाको प्रगट करती है। जैसे कोई कहे कि "खाना माना खा लो" वहा करीव करीव यह जाहिर होता है कि कहने वालेका खाना खिलानेका अन्दरूनी परिणाम नही है। यदि सचमुच शब्द सचकी ही दुहरी वोली है तो वहाँ भी करीव करीव ऐसा ही ध्वनित हुआ मान लेना चाहिए कि कहने वालेको खुद उस सच पर प्रतीति नही है।

कभी कभी तो दुहरी वोलीसे अनर्थ भी ध्वनित हो जाता है जैसे कि कोई कह वैठता है फल मल खा लो जल मल पी लो।

दुहरी वोली वोलना निष्प्रयोजन है। सावधानीसे परिमित वचन ही वोलना चाहिए।

१२ जनवरी १९५८

पर पदार्थको आशा रखनेके अतिरिक्त जगतमे दुःख और है ही क्या। तू तो तू ही अकेला है, अकेला परिणमता है। परिणमन तो दूसरेका तुझमे आता नही, अतः परसे तो कोई दुःख है ही नही। तेरा ही परिणमन तेरे पास है, उसे चाहे दुःख रूप वना ले या सुख रूप वनाले या आनन्द स्वरूप बना ले।

जिस परिणमनमे वाह्य पदार्थके प्रति अनिष्टकी कल्पना है या कल्पित इष्टकी आशा करना है वह तो दुःखरूप परिणमन है। तथा जिस परिणमनमे समागत पदार्थके प्रति इष्टकी कल्पना है व कल्पित अनिष्टके विनाशकी निश्चय है वह सुखरूप परिणमन है। जिस परिणमन मे न इष्टका विकल्प है, न अनिष्ट का विकल्प है किन्तु जानने मात्र स्थिति है वह आनन्दरूप परिणमन है।

आनन्द रूप परिणमनका मूल भेदविज्ञान है। भेदविज्ञानके वाद निज अभेदज्ञान होता है। इस अद्वैत परिणमनमे आनन्द परिणमन की झलक है।

१३ जनवरी १९५८

पर वस्तु विषयक राग रूपसे परिणम जाना इतनी तो है विपत्ति और किसी भी प्रकारका विकल्प न करके अविशिष्ट ज्ञानरूप परिणमना यह है सपत्ति।

विषयोके आधीन होकर पर पदार्थकी अपेक्षा करना यह तो है गुलामी और प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र देखकर परम उदासीन हो जाना यह है आजादी।

विषय कषायके परिणामोका वितान हो जाना आत्माकी वरवादी है और वीतरागता सहित जानकारी रह जाना आत्माकी आवादी है।

शरीरको जीव समझना ही अव्वल शरारत है और शरीरसे जुदा अपने आपको ज्ञानानन्दमय अनुभवना अव्वल सराफत है।

१४ जनवरी १९५८

निरन्तर आर्य उपदेशमे चित्त रहे तो विपत्ति आये ही नही। जैसे बाहर होने वाली घटनाको देखकर कोई पागल सुख दुख माना करे तो माने वह पागलपन ही है। वैसे पर पदार्थमे होने वाली परिस्थितिको देखकर कोई अज्ञानी सुख दुख माना माने करे वह पागलपन अथवा अज्ञान ही तो है।

अपेक्षाका दुख सामान्य दुख नही है। जिस वस्तुकी अपेक्षा रखी जाती वह वस्तु तो पर हे उसका तो अपेक्षकमे अत्यन्ता भाव है। कदाचित वह अपेक्षित पदार्थ पास भी आजावे तो भी लाभ क्या होता आत्मामे, हाँ हानि विभाव व आकुलताकी स्पष्ट ही है।

सुख दुख दाता कोई न आन
मोह राग रुष दुख की खान

१५ जनवरी १९५८

परकी ओर दृष्टि रखकर सिवाय आकुलताके और कुछ नही पाया यह मानते भी जाते और परकी ओर दृष्टि करने से वाज भी नही आते, यह कैसा कुतूहल है। यह इनका वैसाही वर्ताव है जैसे लाल मिर्च अधिक खानेमे सिवाय जलन, गर्मी, आसू आनेके और कुछ आराम नही है यह मानते भी जाते और मिर्च खानेसे वाज नही आते ऐसे लोगोंका वर्ताव है।

यदि आनन्द चाहते हो तो सर्व विकल्पो को छोडकर एक शुद्ध विज्ञानघन चैतन्यमात्र स्वकी दृष्टि कर। यदि आकुलता ही चाहते हो तो अपने आत्म स्वभावकी दृष्टिसे विमुख होकर विषयोमे रति कर।

१६ जनवरी १९५८

दिल अनुदार न बनावो, किसी पर वस्तुकी अपेक्षा न करो। भाग्य भी कुछ है। अधिक प्रयत्नके विकल्प न करो।

रागके उदयमे किसीको परका समागम रुचे तो वह उसकी कल्पना है, वास्तवमे परसे आत्माका कोई गुण प्रकट नही होता।

उपस्थित हो जाय तो वह बुरा नी है प्रत्युक्त भला ही है।

तपस्याओं मे वाह्य संकट है और अन्त आनन्द है। यह अन्त आनन्द ही कर्मोंकी निर्जरा मे समर्थ है। शारीरिक क्लेशसे कर्म नही कटते। अत आनन्द ही सत्य आनन्द है। यह अत्यन्त स्वाधीन एवं सरल है किन्तु इसके अपरिचितो को अत्यन्त कठिन है।

इस अनादि अनन्तकालमे सर्वत्र भ्रमणकर सुयोगवश मनुष्य हुएहो तो मनुष्यत्व का लाभ उठाओ याने विषय कषायमे न पडकर आत्मानुभूतिके यत्नमे लगो।

यह ससार अपार समुद्र है विषय कषायकी लहरियोमे फसनेका फल अथाह दुःख जलमे मग्न रहता ही है। यहाँ परमविवेककी आवश्यकता है। विभावोका राग न करना ही इसका वडा बलिदान है। कहनेको तो कठिन है करनेको कठिन नही अथवा कहनेको तो सरल है करनेको सरल नही।

आत्मानुभव सरल इसलिये है कि इसमे वाह्य यत्न कुछ नही करता है। वस स्वत सिद्ध निजस्वभावपर दृष्टि रखे रहो।

१९ जनवरी १९ ८

करना क्या है ? अन्यमे तो कुछ कर सक्ते नही, जो कर सकते सो अपनेमे। सो स्वय तो हाथ पैरसे रहित है, रूप रसादिसे रहित है, ज्ञान दर्शनमय है। यह मैं तो जव चैतन्यमात्र हूँ तो चेतनेका काम कर सकता हूँ। इस चेतनेमे पद पदके अनुसार विचार, ध्यान, ज्ञान वनता है। सो विचार तो निचले पद मे है और ज्ञान सवसे ऊचले पदमे है। कल्याणार्थी विचारसे ऊपर उठा है और ज्ञानकी अभीक्षता मिली नही उसे। ऐसी अवस्थामे ध्यानकी वात रह जाती है।

अव सोचो हमे ध्यान क्या करना है ? ध्यान किसका ? जिसके ध्यानसे निराकुलता होती हो। वह किस विषयका हो सकता है ? उसका जोकि स्वय निराकुल हो ?

ऐसा तो कार्य परमात्मा है। और स्वभाव दृष्टिसे देखो तो कारण परमात्मा है। अत यही निर्णय हुआ कि हमे कार्य परमात्मा व कारण परमात्माका ध्यान करना चाहिए। कार्य परमात्मा तो है अरहत व सिद्ध और कारण परमात्मा है निज आत्मस्वभाव। हमे अरहत सिद्ध व निज आत्मस्वभावका ध्यान करना चाहिए।

अरहत सिद्धके ध्यानका अपर नाम है भक्ति, किन्तु निज आत्मावभावके ध्यानका नाम हो सकता है स्वभावदृष्टि हमे परमात्माभक्ति व निज स्वभाव दृष्टि करना चाहिये। प्रथम तो निज स्वभाव दृष्टि ही प्रमुख है जिसके प्रसादसे आत्मा अरहत सिद्ध हुए है जिनकी भक्ति भी हमे इष्ट है। इसमे न ठहर सकें तो हमारा वह सव काल परमात्मभक्तिमे व्यतीत होना चाहिये।

२० जनवरी १९५८

परमत्माभक्ति तो कवच है और स्वभावदृष्टि शस्त्र है। कवचके द्वारा तो शत्रुका प्रहार रुक सकता है और शस्त्रके द्वारा शत्रु पर प्रहार होता है। हमारे शत्रु है विषयकषायके परिणाम। विषय कषायके परिणाम वहारुकही जाते है जहा परमात्मभक्तिसे यह तो जरासे ही यत्नमे अनुभव सिद्ध वात हो

जायगी। इसमे अलगसे प्रमाण देनेकी आवश्यकता नही। स्वभावदृष्टिसे विपय कपायके परिणाम समूल नष्ट हो जाते हैं क्योकि साथही विपयकपायके कारणभूत कर्मोकी भी तो निर्जरा हो लेती।

अत सिद्ध है कि जब विपय कपायके परिणाम हो तो उनका आक्रमण निष्फल करनेके लिये परमात्मभक्ति रूपी कवचका उपयोग करना चाहिए। इन शत्रुवोके समूल नाश करनेका मुख्य काम तो है ही सो स्वभावदृष्टि रूप शस्त्र प्रहार तो सदैव आवश्यक है।

जैसे युद्धमे उतरनेवाले वीरोको कवच और शस्त्र दोनो आवश्यक हैं वैसे मोक्षमार्गियोको परमात्मभक्ति व स्वभावदृष्टि दोनो आवश्यक हैं। फिर भी जैसे कोई वीर कवच तो धारण करले किन्तु शस्त्र धारण न करे और उतर आवे युद्ध स्थलमे तो वह विवेकी नही है, क्या होगा उसका सो आप समझ सकते हैं। वैसे कोई परमात्मभक्ति तो किया करे किन्तु स्वभावदृष्टि करे ही नही तो वह विवेकी नही है और होगा उसका क्या ससार भ्रमण।

कोई वीर ऐसा तो हो सकता है कि विना कवचके केवल शस्त्र प्रहारसे शत्रु विजय करले किन्तु यह नही हो सकता कि विना शस्त्रके केवल कवचसे शत्रु विजय करले। कोई अवस्था ऐसी तो हो सकती कि विना परमात्मभक्तिके कोई विशिष्ट ज्ञानी केवल स्वभावदृष्टिसे कर्मविजय करले किन्तु ऐसा नही हो सकता कि कोई विना स्वभावदृष्टिके केवल परमात्मभक्तिसे कर्मविजय करले।

२१ जनवरी १९५८

सत्य तो यह है कि विकल्पोको मूलसे उखाड कर परम निर्विकल्पतामे ही रहा जाय। यह बात कठिन नही है, क्योकि मात्र भावकरि साध्य है।

अपना भाव निर्मल बनाओ, एतदर्थ २ बाते ही तो करना है (१) परसे सम्बन्ध सर्वथा छोडो, (२) निज ज्ञायक स्वभावमे उपयोगी रहो।

काम सरल है क्योकि भाव ही बनाना है। इस कार्यके लिये किसी पर वस्तुके सयोग बनानेकी जरूरत होती मूल तो यह कार्य कठिन था। परन्तु,

यहाँ तो निजकी प्रभुता अनादि सहजसिद्ध है केवल उसके भावदर्शन ही करना कार्य रह गया है।

प्यारो ! करलो अपना काम। मेरे ! मानलो आरामकी बात। सब कुछ। करलो अपने पर मिहर। भैया ! न दुखी होओ अब रच।

सर्व वस्तु पर है, उनके ध्यानमे होने वाला भाव भी पर है। परसे, परागैरो अपना कुछ लाभ नही होना है। खुदही खुदके लिये सहाय है। ॐ नमः परमात्मने, ॐ नम शुद्धात्मने, ॐ नमो वीतरागाय, ॐ नमो निरञ्जनाय, ॐ नमो सर्वोपद विनाशन समर्थाय ज्ञायकस्वरूपाय सच्चिदानन्दाय।

२२ जनवरी १९५८

आनन्द तो सदा है, तुम ही न चाहो, उल्टे चलो तो इसका अपराध किसके शिर मडे। तुमही अपनी सर्व परिणतिके जुम्मेदार हो।

अनादिसे लेकर अब तक कितना काल बीता और आगे भी तो अनन्त काल बीतता रहेगा। इस बीच सार क्या विषयकषायके परिणाम ही हैं। प्रिय ऊधम छोडो अपने ध्रुव चैतन्य स्वभावको देखो।

आनन्द अभी है नही, कुछ और प्रवृत्ति करनेसे आवेगा इस बातको छोडो। आनन्द तो अभी भी आनेकी प्रतीक्षा कर रहा है सदा सेवकसा खडा हुआ है, तुमही उसका निरादर करते चले जा रहे हो। देखो तिसपर भी आनन्द तुम्हारी हुजूरीमे खडा है। हे प्रभु ! सेवक पर दृष्टि करो।

बाह्य पदार्थ तो कुछ भी तेरे नही है। उत्तमसे उत्तम, सुन्दरसे सुन्दर भी बाह्य पदार्थ हो सचेत न हो या अचेत न हो वह, तुम्हारे तो किसी काम आनेका ही नही। हा आकुलताके काम विभावके काम, पापके काम, विकल्पके काम विपदाके काम जरूर आ सकता है निमित्तरूपमे।

अब जो आये सो करो, अपने पूर्वजोके गुणोकी ओर भी तो चितारो जो कि अपने ज्ञान व वैराग्यके बलसे समस्त दु:खोका अन्त कर अनन्त सुखमे पहुच गये। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

२३ जनवरी १९५८

किसे देखना है ? कौन हित कर देगा ? बाह्यमे किसीकोभी नही देखना है, आखे बन्द कर अन्तरङ्गमे ही कुछ देखना है सो वह देखना आखे बन्द करने पर

हो जायेगा। न देखो न झूरो। रहा भोजनके समयका काम, सो भैया जैसा वने, स्वाद आता है तो ले लेकर ही सही, निपट लो, मगर सदा तो दृष्टि वन्द करो, धार्मिक कार्य स्वाध्याय आदिमे दृष्टि कर लो।

आत्माका हित तो आनन्द है, आनन्द स्वके उपयोगमे ही है, निरन्तर स्वोपयोगका रहना मोक्षमे है, मोक्षका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र है, इन सवका साधन सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शनका आधार शुद्ध आत्मतत्व है, शुद्ध आत्मतत्वकी प्राप्तिका उपाय उसका वोध है, उसके वोधका साधन आत्मतत्वके उपदेश व तत्विक ग्रन्थोका अध्ययन है। अत कल्याणार्थियोको शास्त्रभ्यास और सत्सगति अवश्यमेव करना चाहिये।

सत्यमेव जयते सदा। अहिसा परमो धर्म। क्षमा वीरस्य भूषणम। ब्रह्मचर्य पर तप। सन्तोष परम सुखम्। अच्छा इन्ही पाच वातो पर तो चलो फिर भला न हो तो कहना। इसमे क्या रखा कि करना तो कुछ न पडे सब कुछ हो जाय ऐसा ही सोचते रहो। अपने मनका समझा लेना इतना कठिन क्यो लगता कठिन तो परका कुछ बनाना ही है।

२४जनवरी १९५८

विकल्प छोडा तो सब कुछ छोडा। विकल्प न छोडा तो कुछ नही छोडा। वाह्य परिग्रहका छोडना वाह्य परिग्रहके छोडनेके लिये नही है वाह्य परिग्रह का छोडना विकल्प छोडनेके उद्देश्यसे होता है। कोई भोजन तो तैयार करे और तैयार कर लेनेपर जमीन छितया दे तो उसकी करतूत विवेककी तो नही मानी जाती। कोई साधुरूप तो वनावे और उसरूप विषयकषायमे ही विताये तो उसकी करतूत विवेककी तो नही मानी जायगी।

कषायविकल्प आत्माके सहजाभाव नही है कषायविकल्प सारभूत चीज नही है। कषायविकल्पकी कोई सत्ता नही है ये भी तो कल्पना है, कल्पनासे क्या सिद्धि है?

कल्पना तो कुछ होने ही मत दो। कल्पना तो तरङ्ग है। कल्पना तो अज्ञान का फल है। अज्ञानसे क्या सिद्धि है।

ज्ञान और मोक्ष और ससार है। ज्ञान ही तो योग है और ज्ञान ही मोक्ष है और अज्ञान ही तो भोग है और अज्ञान ही ससार है।

ज्ञानमे भी कुछ खर्च नही और अज्ञानमे भी कुछ खर्च नही। कही भी

होओ परका खर्च किया ही नही जा सकता। खर्च लाभका तो स्वामी स्वयं को ही कहा जा सकता है।

२५ जनवरी १९५८

हे मुमुक्षु! किसी भी मार्गमे वढ डट कर तो वढ। सदेह या कुछ कुछ मे तो रिजल्ट अच्छा नही होगा।

हे मुमुक्षु! खोटा वनना है तो खोटे ही वन ले मगर इस ज्ञानकी भी कभी कभी खवर रखना तो खोटेसे मूलतः मुक्त हो भी लोगे।

हे मुमुक्षु! सच्चा वनना है तो डटकर सच्चा वन। सदेह या कुछ कुछमे तो रिजल्ट अच्छा नही होगा।

हे मुमुक्षु! जबलो न रोग जरा गहे तवलो झटिति निज हित करो। कठिन रोग होने पर प्राय सक्लेशमे समय जासकता है। यही बुढापेका हाल हो जाता है। जवतक सामर्थ्य है, तप कर, व्रत कर, सयमसे रह, ब्रह्मचर्य की परमोपासना कर।

हे मुमुक्षु! निश्चयसे जान परकी सत्ता मिटेगी नही, पर सब कुछ रहेगा, किसी रूप बदले, रहेगा अवश्य। परके किसी भाँति रहनेमे भी तुम्हारा तो कुछ होता नही है। तुम्हारा तो लाभ इसमे है यदि तुम निर्विकल्प रह सको। तुम्हारी तो हानि इसमे है यदि तुम विकल्पक बने रहो।

विकल्पोसे एक वार तो उपयोगभूमिका प्लेट फार्म साफ कर दो। अनेक राग रग तो रचे, एक वार तो अपना स्वच्छ नाटक कर लो जिससे फिर नाटक मे अटक न रहे। ऊ, ऊ, ऊ

शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम्।

२६ जनवरी १९५८

सम्यक्, सम्यक्को, सम्यक्से सम्यक्मे सम्यक् के लिये सम्यक् देखे। वस यही सत्यशिव सुन्दरम् है। श्रुतदेवते! जयवर्त होहु जिसके प्रसादसे सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हो।

व्यवहार कितने ढगमे होता है। निश्चयके साथ का व्यवहार, निश्चय के वाद का व्यवहार, निश्चयसे पहिलेका व्यवहार, निश्चयके बिनाका व्यवहार।

सत्य शिव सुन्दरम्। सत्य आत्मस्वभाव है। शिव आत्मस्वभाव है, सुन्दर आत्मस्वभाव है। आत्माका आत्माही साधक है, आत्माका आत्मा ही साध्य है।

आत्माववोधादधिक न किञ्चिन्

मनोवल स्वाधीनतामे वढता है। स्वाधीनता स्वके उपयो मे होती है। अत यदि वलिष्ट मन बनाना है तो एक निज आत्माका ही विचार अधिक किया करो।

वचनवलभी मनोवलके अनुसार प्रकट होता है। वचनवल होनेकी योग्यता वालेके अन्तर्जल्पका वल भी विशाल होता है।

ऊ नमोऽनन्तवलाय। ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ। ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ।

२७ जनवरी १९५८

इस लोकमे इस भवमे इस समय जो दिखता है वही सब कुछ नही वह तो सव धोखा है। धोखेमे मत पडो। सर्व परके विकल्प छोड़कर अपने आत मे स्थिर रहो। जगत का विजय कठिन तो है ही अन्यथा यह सृष्टि तो कभी की सर्वथा समाप्त हो जाती। कौन नही चाहता कि मैं फन्देसे छूट जाऊ। आसान होता इन्द्रियविजय आसान होना कपायोपशम तो इस जगतके दुख जो चाहे मैंट लेता।

हाँ, जिन्होने आत्माके सरल स्वभाव को देख लिया है। उन्हे उक्त सव हितकी वाते विलकुल सरल हैं।

ऊ नम. सत्वहितङ्कराय आर्जवस्वभावाय।

ऊ नम सहजसिद्धाय सहजस्वभावाय।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शान्ति निध न।

अविकल नित्य रहे निजभान, दो ऐसा अविचल वरदान ।

विकल्प ही विपदा है । विकल्प मेटो विपदा मिटी, विकल्प कैसे मिटे इसका उपाय तो निर्विकल्प निजस्वभावका ध्यान है । यह कैसे हो इसका उपाय निर्विकल्प निजस्वभावकी जानकारी है । इस स्वभावके ही ज्ञान ध्यान मे लगो और अपना समय सफल करो ।

हे वीतराग, परम देव, देवाधिदेव, निजरसनिर्भर निरञ्जन, सच्चिदानन्द ? तेरी ही असीम कृपासे याने ध्यानसे दु खकी बेडी कट सकती है, अन्य तो सब गप्पवाद है । ऊ तत्सत् परमात्मने नम ।

ऊं ऊं ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ, ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊं ऊ ।

२८ जनवरी १९५८

आज उपवास मे यह ज्ञात ही नही हुआ कि अनाहार है आज । मनुष्य की इच्छा मूल रोग की दवाई है । कोई दवाईमें आसक्त हो जाता है वो कोई दवाई समझकर अनिच्छा पूर्वक व्यायाम करता है । धन्य है ज्ञानी सत महा-पुरुपोकी जिनकी ज्ञान दृष्टि अभीक्ष्ण रहा करती है । धन्य है उन अज्ञानी असत ससारसुभटोको जिनकी परदृष्टि अभीक्ष्ण बनी रहा करती है । प्रभुता सवमे है । है सारी लीलाये इस प्रभुकी । इस समर्थ प्रभु विना ज्ञानदृष्टि अथवा परदृष्टिकी लीला को करनेमे अन्य कोई अचेतन तो समर्थ हो सकता नही ।

दुरत नह त कर्मविपाकका अन्त कर देनेमे समर्थ सतोकी वाणीका श्रवण उत्तम सपत्ति है ।

हे नाथ ! सकट कव टलेगा ये ज्ञायकस्वभावपर औपाधिक भाव छा जाने का । जव ही स्वभावपर दृष्टि दो तव ही मिट जावेगा । पुरुषार्थ करो रडरोने से काम न चलेगा ।

मैं मै हूं, पर पर है, परसे वता क्या मिल जावेगा, तुझमे वता क्या नही है । व्यर्थकी कल्पनाकी कुटेवसे प्रेम करे तो यह तेरा अधमपना है इससे परको कोई धोखा नही है, दुर्गतिमे तो तूही अकेला जावेगा ।

ऊ भज ऊ भज ऊ भज ऊं, ऊ भज ऊ भज ऊ भज ऊं ।

ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ, ऊं ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ।

२६ जनवरी १६५८

जीवन विनश्वर है, प्रतिसमय जीवनके विनाशकी ओर जा रहे हो। समय कम रह गया है। आयुका किनारा नजदीक आता जा रहा है। कल्याण के लिये जो करना हो झट कर लो। समय गये पछताना रहेगा।

उपशमक साधु भी गिरकर कहो ऐसा गिर जाय कि देशोन अर्द्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल तक मिथ्यात्त्वमे बस कर अनन्त दुःख भोगे। फिर अपनी भी तो स्थिति बता कि तू किस स्थान पर है। परिणामकी सभाल निरन्तर रखो। क्षण भर भी परिणामका गिरना महान् दुःखका बीज बन सकता है।

इस अनादि प्रवाह वाले जगजालमे भ्रम कर अमूल्य निधि नर जन्मकी पाई है इसका बिगाड़ मत कर अगले जन्मो का पराभव मत बाध।

ससारके क्लेश लेश भी कम न होगे पर्यायके रागमे। पर्यायव्यामोह छोडो, स्वभावानुराग बढाकर वीतराग बनो।

अविचल पदके, रुचिया बनो तो सब काम सही होता रहेगा। ससार भावके रुचिया रहोगे तो सब काम बिगडता चला जायगा।

कहो, क्या चाहिये तुम्हे, सुख या दुःख सबकी दवा है यहाँ सुख चाहिये तो चलो आत्मारामके आराममे विहार करने। दुःख चाहिये तो सडो जिन विभावोमे रहकर सडते चले आये।

३० जनवरी १६५८

निज को निज परको पर जान। मत तज अपने हित ईमान।

फिर दुख का नहि लेश निदान। एक वार अनुभव कर मान।

लोग क्लेश सहते है आनन्दके लिये वास्तविकता यह है कि आनन्दके लिये क्लेश करना ही नही पडता। क्लेशसे तो क्लेश मिलता है। आनन्दसे आनन्द मिलता है।

अपने स्वरूपको देखो सब समस्या हल हो जावेंगी देखो तुम्हारा प्रभु तुम्ही मे निरन्तर विराजमान है, जिसके मूल कारणसे ये सब तुम्हारी लीलायें हो रही है। देख सके तो देख, देख देख लेने पर फिर लेश भी क्लेश न रहेगा।

भावबन्ध क्लेशका मूल है। भावबन्धकी तीन परिभाषाये है।

(१) आत्माके जिन परिणामोसे कर्म बन्धता है उन्हे भावबन्ध कहते है। यह तो व्यवहार दृष्टिसे है, क्योकि यहाँ दो द्रव्य का सम्बन्ध देखा जा रहा है।

(२) स्वभाव व विभावमे बन्ध होना भावबन्ध है। स्वभाव सदा है उसका परिणमन जिसकी उपाधिको निमित्त मात्र पाकर विभाव रुप हो जाते हे उसका वह स्वभाव विभावका बन्ध कहलाता है।

(३) रागादिविभावोके साथ उपयोगका एकमेक होना भावबन्ध है। रागादि भी भाव हैं और उपयोग भी भाव है। यहा रागादिके साथ उपयोगकी एकताको भावबन्ध कहा है।

आत्माका अपराध विभावको अपना लेना है। विभाव होता है तो होने दो, किन्तु उसे अपनाओ हो नही।

३१ जनवरी १९५८

ज्ञान के अनुभवनका आनन्द ही वास्तविक आनन्द है। अन्य सब काल्पनिक सुख हो सकते है, उनका सम्बन्ध निराकुलताका हेतु नही है, मात्र दुख के हेतु है। जिनके लिये मानसिक, वाचनिक, कायिक श्रम करो वे ही तुम्हारे विभाव, ज्ञिप के आश्रय कारण है।

जो भी विभाव इस समय चित्तमे हो उसीको सकेत करके सोचो—क्या अनादि अनन्तकाल मे यही सार है। हट, बावरे ! कितना काल व्यतीत हुआ, कोई छुटी पर्याय क्या आगे रहती है। इस परिणामका राग छोड। विकल्प ही विपदा है। विपदा से परे हट।

तेरे से तो भिन्न सर्व ही पर है। उनके किसी भी परिणमनसे तुझे रच

भी कुछ नही होना है। तेरे का जो होना है वह तेरे ही आधारसे होता है। इस तत्त्व की उपयोगिता जिनके नही है वे हो तो ससारवर्द्धक है, मोही है, मिथ्यादृष्टि हैं।

शान्तिका मार्ग पा लो, इस नरजन्मका लाभ उठा लो, प्राप्त ज्ञानका उपयोग कर लो।

चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण आत्मा और कर्मके निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध का परिणाम है। निमित्त नैमित्तिकता तो यथा योग्य परिणमन होने पर होती है, वहाँ चतुराई काम नही देती। कर्मबन्धके निमित्तभूत बननेरूप तुम न परिणमो तो क्लेशपरम्परा दूर हो जावेगी।

१ फरवरी १९५८

अय विकल्पो! हटो तुमसे मेरा अहित ही अहित है। तुम औपाधिक हो मैं ध्रुव ज्ञायकस्वरूप हू। मैं स्वय ज्ञान व आनन्द का पिण्ड हूँ। ऊ शुद्ध चिदस्मि। शुद्ध चिदस्मि महज परमात्मतत्त्वम्।

आत्मन्! कल्याण झट कर लो। यदि कर्म की लहर तेज आगई तो दुःख पूर्ण मोहसागरमे डूब जावोगे फिर पता नही क्या होगा, कब उबरोगे।

सम्यक्त ही सच्चा मित्र है, साथी है, आत्मदृष्टि रखो आनन्द होगा। विभाव के वहकायेमे मत आवो। विभाव तुम्हे परेशान कर डालेगा। विभाव विषफल है, होते समय तो वह अच्छा लगता है, किन्तु उसके स्नेह मे बडी वेदना हो जाती है।

सच पूछो तो विपदा, अन्य कुछ और है ही नही मात्रविभाव ही विपदा है विभाव हटें तो सर्व विपदा हटी। यदि विभाव है तो शरीर, धन आदिका कितना भी आराम हो वह आराम ही नही। जहा आराम है वह तो सपदा है और जहां आराम नही वह विपदा है।

मोही विपदाको बुला बुलाकर भोगता है, ज्ञानी विपदा से दूर रहना चाहता है। ज्ञानीके इस भावमे वह चमत्कार है कि ज्ञानीपर विपदा भी

आवे तो भी नावह विपद ही है। ज्ञानी विपद मे भी ज्ञायक रहता है।

मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। मै परसे, परभावोसे, नैमित्तिक भावोसे पृथक् और अपने गुण पर्यायमे तन्मय हूँ। ऊ शुद्ध चिदस्मि।

२ फरवरी १६५८

अन्य सर्व असार है एक स्वाश्रय ही सार है। किसी भी सचेतन या अचेतनका विचार ही मत करो। स्वयभूरमणसमुद्रका तो पार है किन्तु ससार सागरका कोई पार नही है। इस लोकमे अनादि अनन्त काल से रुलते रुलते घोर दु ख सहते सहते वडी कठिनाई से नरजन्म मिला है, इसका दुरुपयोग मत करो। तपस्या मे ज्ञानसाधना मे उपयोग दो।

आत्मा तो त्रिकालस्थायी है इसमे आने वाली क्षणिक पर्यायो मे राग किस लिये किया जावे। तत्व क्या है ? लाभ क्या है आत्मीय क्षणिक पर्यायीमे राग करने से। पर्याय तो जावेगी किन्तु पर्यायदृष्टि से किया गया मालिन्य सस्कार आगे आवेगा और तव भी उस पर्याय मे राग करोगे तो फिर सस्कार बनेगा और आवेगा आगे। क्या ऐसे ही चक्कर काटते रहना तुम्हे अच्छा लगता है।

मात्र काम यह एक ही तो है, निजस्वभाव मे दृष्टि करो।

प्रिय आत्मन् ! अपने पर प्यार तो करो। सच्चा प्यार अपने ध्रुव स्वभाव पर दृष्टि देना है।

प्रिय आत्मन् ! अपने आपपर द्वेप तो न करो, विषय कषायके मलिन परिणाम कर लेना ही अपने आपपर महाद्वेप है।

यहा तो निमित्त नैमित्तिकभाव हे यही प्राकृतिक व्यवस्था है। वडेके वडप्पनका लिहाज न होगा। दुष्कर्मका फल दुर्गति, सत्कर्म का फल सद्गति होना सबके लिये अमिट है।

३ फरवरी १६५८

यदि सुखपूर्ण अवस्था ध्यानमे रही आवे तो विकल्प जालोसे मुक्ति पाना

आसान होगा। किसी भी पर पदार्थकी दृष्टि चिन्ता, शल्य, प्रतीक्षा, इच्छा आदि दुर्भावोंकी जननी है। अत सबसे बडी मूलकी भूल परपदार्थकी रुचि होना है। सावधानी इस मूल मे होना चाहिये। भूल हो जाय तो भूलको लम्बा नही बनाना चाहिये।

आज दशलक्षणपर्व के ब्रह्मचर्य धर्माङ्गका दिवस है। आत्माका परमोपकारी ब्रह्मचर्य है। धर्मो का आधार ब्रह्मचर्य है, क्योकि यदि ब्रह्मचर्य न हो तो धर्म नही चल सकता।

मनुष्यको Empty खाली नही बैठना चाहिए। खाली बैठना ही बडा भारी शत्रु है।

जैसे भोजन का इच्छुक कई तरहके भोजन विना सतोष नही पाता। भोजन मे उसे नमकीन भी चाहिए, मिठाई भी चाहिए, पकवान भी चाहिये, दाल शाक रोटी भी चाहिये, चटनी चाहिये तब वह भोजन लोलुपी संतोष से पेट भरता है।

वैसे धर्म का इच्छुक भव्य आत्मा प्रमाद दशामे कई तरह के साधन विना सन्तोष नही पाता। देवपूजा भी करना चाहिये, स्वाध्याय करना भी चाहिये, सत्सगति भी चाहिये, दु खियो की सेवा भी चाहिये, पढाना भी चाहिये तब वह धर्म का इच्छुक सन्तोषप्रद धर्म से अपना पोषण कर पाता है।

आज प्रतिक्रमण दिवस है, उपवास का भी अर्थ यही निश्चय से है कि आत्माके समीप बसना इसका यह अनशन है। इस उपवासमें प्रतिक्रमण तो हो ही जाता है।

४ फरवरी १९५८

पूर्ण श्रद्धा व पूर्ण सदाचार तो कुछ समय विता। मोक्ष तेरा अतिनिकट ही जान। समाधिका कारण सयम है, सयम का कारण ज्ञान, भावना है। ज्ञानभावना से अपना समय सफल करो।

इन्द्रिय सुख, कीर्तिव वैभव ये सभी असार है, जीव के क्लेश के ही कारण है। इनकी ओर उपयोग जाना बडे पाप के उदयका परिणाम है। बाह्यसयोग

कैसे ही गुजरो, शारीरिक व्याधिया जितनी चाहे आवो, अन्यकृत उपद्रव जितने चाहे आवो, किन्तु बाह्य पदार्थ मे, वह चाहे शरीर हो या अन्य कुछ हो, उपयोग न जाय, रति न होय तो सर्व कुछ संपति से सम्पन्नता ही समझिये।

किसी भी प्रकार का विकल्प हो, निर्विकल्प समाधिका प्रतिपक्षी भाव है। जहा विकल्प परिणमन है वहाँ निर्विकल्प परिणमन कैसे हो सकता है। सत्य आनन्द के लिये तो यह हिम्मत करनी ही होगी कि विकल्प मात्रको अपना प्रतिपक्षी समझकर उपयोगमे विकल्पको रंच भी स्थान नही देना धर्म के लिये प्यारे। यही तो करना है।

इस अनादि अनन्तकालमे भटकते भटकते कठिनाईसे यह नरजन्म पाया है, इसका तो सदुपयोग यही है कि ऐसी सावधानी होना कि विषय कषायके भाव उत्पन्न न हो।

शिवका शिव शिवपथके पथिकको प्राप्त होता है। जो सदा शिव निज-तत्त्वकी शिवमय उपासना करते है उन्हे शिव प्राप्त होना कुछ भी कठिन नही है।

५ फरवरी १९५८

आज जन्मनक्षत्र है, मघा यात्राके लिये त्याज्य नक्षत्र है, पडमा है, चर योग है, बुधवार है ये सब अशुभ निमित्त हे तो भी आज जानेका भाव है और भाव है कि आजसे कभी दिन नक्षत्र, योगादि का कुछ भी विचार न करना और जब चाहे तब प्रयोग कर देना।

वस्तुत बात यह है कि अशुभता कुछ भी अन्यमे नही है, अशुभ तो विकल्प है। विकल्प है तब तक अशुभता है। विकल्प न हो, वहा तो सब शुभ है, शिव है, मगल है।

भावकी पवित्रता चाहिये फिर कुछ हानि नही है और न कुछ अमङ्गल है। शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि निर्विकल्पताकी जननी है। निर्विकल्पता ही सर्वार्थसिद्धि है। निर्विकल्पताका उपाय जो कि चलकर भी किया जा सकता है, परिग्रहको असम्बन्ध है।

बोलना भी आत्मदृष्टिका बाधक है । कुन्ताके साधारण काटेपर दवाईके रखने से जो भयावह जखम हो गया था उसके प्रसङ्गमे मौन व्यवस्थित न रहा अबसे पुन २० घण्टेका मौन चालू करता हूँ तथा गुरुजी के सामने वगैरह जो अपवाद समय थे वे अपवादरूप माने छुट्टीमे होगे ।

ॐ शुद्ध चिदस्मि ।

६ फरवरी १९५८

सर्वविरति न होने पर किस किस प्रकारके परिणाम होते है । इनकी सिविधत। हास्यका स्थान लेती हैं। लौकिक न्याय, अन्यायका आधार भी बाह्योपयोग है। अलौकिक न्याय एव आनन्द सर्व प्रकारके-बाह्य पदार्थो के उपयोग से दूर रह ध्रुवज्ञायकमात्र निज चैतन्यस्वभावके उपयोग द्वारा होगा ।

यह आत्मा ज्ञायकमात्र है । जानता है जैसा वैसा भी नही, राग द्वेषकी तरग है बहती है ही नही, न जाने जड़ रहे ऐसा भी नही, किन्तु अनादि, अनन्त नित्य अन्त:प्रकाशमान, एक स्वरूप ध्रुव चैतन्य मात्र है । यही चैतन्य मात्रका ज्ञायक भाव है।

अहो आनन्द कितना सुगम और सुलभ है । इसके अर्थ केवल यह ही करना है कि सर्व परिश्रमोंसे हट जाओ, स्वय सहज जैसा विश्राम रहे उस प्रकार होने दो ।

सर्व इन्द्रियोके व्यापारको दूर करो । यह सयम २ रीति से होगा सो समय समयपर जिस चाही रीतिका आश्रय लो । वे दो रीतियाँ ये हैं—

(१) विभावको व सर्वपर पदार्थको असार जानकर बाह्यके उपयोगमे अत्यन्त शिथिल हो जावो ।

(२) विचारों श्रमको व्यर्थ जानकर कुछ भी विचार न लाकर होने वाली स्वतन्त्र स्थिरताके बलसे निज ध्रुव स्वभावका अनुभव करो ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ । ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ।

ॐ शुद्ध चिदस्मि ।

७ फरवरी १९५८

पूज्य श्री गुरु जी (वडे वर्णीजी) के दर्शन व सत्समागमनके अर्थ आज ईसरी आये। एक नगर से दूसरे नगर के लिये विहार करते रहना बहुत उपयोगी कार्य है। पूर्व स्थानका परिचय व स्नेह छूट जाना विहारका प्रथम व प्रमुख गुण है। इस ही लाभके बलपर दया, उदारता, विशुद्धि आदि गुण आत्मामे अधिकार पाते हैं।

किसी भी स्थान पर १०—५-३ दिनसे अधिक न ठहरना त्यागीको उत्तम है। बडे शहर मे १० मध्यमनगरसे ५ व ग्राम मे ३ दिनसे अधिक न ठहरना। उस स्थान से अन्यत्र चले जाना जो कमसे कम ३ मील दूर हो।

१—परिग्रह के संचयकी दृष्टि नही होना

२—अधिक समय मौनमे बीतना।

३—अध्यात्मशास्त्रोका अधिकसे अधिक स्वाध्याय होना।

४—सत्सङ्ग अच्छा होना और उसमे रहकर भी निवास अलग अलग होना।

५—स्वाध्यायसे अवसर पाने पर बैठे हुए या लेटे हुए आँख बन्द करके आत्मचिन्तन या विश्राममे रहना। पर पदार्थके चिन्तन न करनेको विश्राम कहते है।

इस अध्यात्मपञ्च शैलो पर चलना परमार्थविजयेच्छुका कर्त्तव्य है।

ॐ नम शिवाय, शिवस्वरूपाय समयसाराय।

८ फरवरी १९५८

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे जानकारी तो हो चुकी, अनुभव द्वारा अपना आनन्द भी जान चुका, अब तो उसकी बार बार भावना की आवश्यकता है। स्वाध्याय ज्ञानभावना के लिये करना है। जानने के लिये स्वध्याय करना है। अथवा नित्य नियम कारण स्वाध्याय करना है इस भाव से किये गये स्वाध्याय से मनका लगना कठिन है। किन्तु, ज्ञानभावना, तत्त्वभावनाके उद्देश्यसे

किये जाने वाले स्वाध्यायमें सावधानी, उत्साह, आनन्द आदि सभी विकासों की प्रगति होती है।

जैसे भोजन कर चुकनेवाले पुरुषको भोजनकी आवश्यकता नहीं रहना चाहिए क्योंकि जानकारी तो करना शेष रही नहीं कि यह देखना हो कैसे ग्रास मुंहमें जाता, कैसे पेटमें जाता आदि। बात यह है कि भोजन कर चुकने के बाद भूख लगने लगी, भूख बढ़ती गई उससे दूसरे दिन फिर भोजन की आवश्यकता हुई। वैसे आत्मतत्त्वकी जानकारी कर चुकने वाले पुरुषको स्वाध्याय अथवा शास्त्रोंमें जो लिखा है उनकी जानकारी कर चुकने वाले पुरुषको आवश्यकता तो नही रहना चाहिए स्वाध्यायकी, क्योंकि जानकारी तो करना शेष रही नही उस विषयकी कि देखें इस शास्त्रमे क्या लिखा है। बात यह कि तत्त्वकी जानकारी कर लेने के बाद विषय, कषायके विकल्प आने लगे और बढ़ने लगे इससे फिर दूसरे ढंगसे स्वाध्यायकी आवश्यकता हुई। वास्तविक उद्देश्य से किया जानेवाला स्वाध्याय ही उत्तम स्वाध्याय है। 'स्वाध्याय' परम तप'।

ॐ शुद्धं चिदस्मि।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ।

९ फरवरी १९५८

जिनेन्द्र देवके शासनमे दो ही तो बातें हैं—१ मोक्ष, २ मोक्षमार्ग।

यदि संसार या संसार मार्गकी कोई बात भी होवे तो वह भी मोक्षमार्ग के प्रयोजन साधनेके उद्देश्यसे होगा। हमे जिनेन्द्रके शासन मे रहना है तो उक्त २ बातें ही रहना चाहिए। मोक्षमार्गके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह क्लेश केलिये ही है।

विकल्पोसे छुटि छुटि विश्रामसे रहो इसमे ही कल्याण है। आखिर तो यहाका दृश्यमान तो सब छूट ही जाना है, पहिले मर गये होते तो आज छूटा हुआ ही तो रहता। क्या ऐसा हो नही सकता था। औरो का ऐसा हो सकना या ऐसा होना देखि देखि यह तो निश्चयसे मान ही मान।

अब रही सही जिन्दगी सफल कर लो अनादि अनन्त चैतन्य स्वभावमें उपयोग लगा कर।

आज भाव हुआ है—कि आत्मतत्त्वके समीप बसनेके लिये फकीर, मस्ताने बन जावो। एतदर्थ मौन भी क सहायक है सो मौनका पहिले विचार किया था व चलाया भी था अभी बीमारी में १।। माहसे व्यवस्थित नहीं रहा सो अब २० घंटे प्रतिदिनके मौनका विचार कर लो उसमें मौनको खोले रहनेका ऐसा समय ठीक बैठ सकता है—

प्रात ४—४।। फिर १।। घन्टा दिन चढ़ेमें ४० मिनट—१/१०	
दुपहर १।। से २ फिर ३।। से ४/१० तक	=१/१०
सायं ८ से ८/४०	०/४०
मिलनेका ११ बजे दुपहरसे ११।। बजे वस्तुकार्य	१/०
सूर्योदयसे सूर्यास्तसे पहिले आधा घण्टा	४घण्टा

१० फरवरी १९५८

त्रैकालिक कारण परमात्मा, विशिष्ट कारण परमात्मा, वर्तमान कार्यवर्तमान कारणपरमात्मा ऐसे ये ३ प्रकार कारणपरमात्मत्वके हैं।

त्रैकालिक कारणपरमात्मा चैतन्यस्वभावकी दृष्टिमें दृष्ट आत्मद्रव्यको कहते हैं। यह कारणपरमात्मा प्रत्येक जीवमें प्रत्येक समय निरन्तर विद्यमान है। इस परमात्मामें पर्यायपर [illegible] दृष्टि नहीं है।

विशिष्टकारणपरमात्मा केवल ज्ञानादि शुद्ध परमात्मत्व की व्यक्ति होनेसे पहिले होने वाली कारण दशाकी निर्मोह पर्याय को कहते हैं। यहां योग्य उपादानपर दृष्टि है। इस दृष्टिका सम्बन्ध पर्याय से भी है। इस कारण परमात्माका व्यय होता है और कार्य परमात्मा का नव उत्पाद होता है।

कार्यवर्तमान कारणपरमात्मा—कार्यपरमात्मा याने अरहंत व सिद्ध भगवानके प्रतिसमय केवल ज्ञानादि पर्यायें उत्पन्न होती रहती है, वे पर्यायें [illegible] कारणपने उपादान करके प्रकट होती

है। केवलज्ञानादि कार्यपरमात्वका उपादान भूत स्वभाव कारणरूप पडता रहता है। अत. यह पूवसमयवर्ती शुद्धपर्याय हि [illegible] कार्यवर्तमानकारणपरमात्मा ह। इस द्रष्टिका सम्बन्ध पर्यायसे भी है।

त्रैकालिक परमात्मत्व तो शुद्ध अशुद्ध सभी अवस्थावोमे है। इस ही कारण परमात्माकी यह सब सृष्टि है।

११ फरवरी १९५८

बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माके पर्यायवाची शब्दः—

बहिरात्मा,	अन्तरात्मा,	परमात्मा
दुरात्मा,	महात्मा	परमात्मा
जीव,	आत्मा	परमात्मा
कार्य अशुद्ध जीव	कारणशुद्धजीव	कार्यशुद्धजीव
परात्मबुद्धि	स्वात्मबुद्धि	शुद्धात्मा
परसमय	स्वसमय	पूर्ण स्वसमय
जागृति	सुषुप्ति	अना प्रज्ञ
अ	उ	म्
मिथ्यादृष्टि	सम्यग्दृष्टि	सकलज्ञ
अज्ञ	आत्मज्ञ	सर्वज्ञ
मूढ	निर्मूढ	स्वच्छ
भ्रान्त	निर्भ्रान्त	निर्मल
अज्ञ	विज्ञ	प्रज्ञ
मन	बुद्धि	ब्रह्म
रक्त	विरक्त	विविक्त
अध्रुवोपयोगी	ध्रुवोपयोगी	शुद्धोपयोगी
पर्यायमूढ	द्रव्यद्रष्टा	साक्षी
असत	सत	महत

नास्तिक	आस्तिक	ईश्वर
मानी	ध्यानी	ज्ञानी

१२ फरवरी १९५८

गत ४ दिन विकल्पमे गये, व्यर्थ गये। आज इस निर्णयपर पहुचा हूँ कि सत्सङ्गकी व्यवस्थामे स्वय नही पडना। यदि आत्मध्यानकी प्रगति करना है, तो अन्तरग परिग्रहसे ममता तोडो। अन्तरग परिग्रह है राग द्वेष। धन स्थान, परशरीर, स्वशरीर, इज्जत, प्रशसा वाक्य, मान्यता, विचार आदि ये सब पर भाव है, इनमे ममत्व मत करो, राग मत करो। दारिद्रय, जीर्ण कुटी, परदेहविकृति, स्वशरीरविकृति, अपवाद, निन्दावाक्य, अकीर्ति आदि भी परभाव है, इनमे ग्लानि, विरोध, द्वेष मत करो।

आत्माकी स्वस्वरूपस्थिरता ही श्रेय है। यह दृश्यमान जगत तो विभावमे ही कारण बन सकता हे। किसी भी पर पदार्थसे हितकी आशा न रखो। पर पदार्थकी ओर उपयोग देना बडा भारी चक्कर है। स्वकी अनुभूति बिना ससारके दुखोसे छुटकारा पानेका अन्य उपाय कोई नही है।

वह समय धन्य है जिस समय स्वकी अनुभूति हो। वह शुभभाव धन्य जिस भावके वाद स्वकी अनुभूति हो वह जीवमुव्यञ्जन पर्याय धन्य है जिसमे स्वकी अनुभूति हो। वह जीव धन्य है जिसके स्वानुभूति हो रही हो।

जगतमे अनेको नाट्य नचते जाओ कुछका तो फल देखलिया और कुछका फल और देख लोगे। तथा अन्तमे यही मिलेगा कि सर्व परोपयोग दूर करके एक निर्विकल्प निरक्ष अकारण, अकार्य, नित्यनिरावरण, नित्योद्घाट निजपरमात्मतत्वका परिचय करो यहा ही श्रेय मिलेगा।

१३ फरवरी १९५८

मैं एक सत् हू इसकी प्रति समय परिणति हो रही है। प्रत्येक परिणति नअपने समयमात्र वर्तमान काल से आगे नही चल पाती। अत किसी भी

परिणतिमे रुचि करनेमे क्या लाभ हाथ आवेगा ? कुछ भी नही।

किसी भी परिणतिमे मत रमो। तू तो शुद्ध ध्रुव चिदानन्दस्वरूप है परिणतियाँ होती हैं, यह तो ठीक है किन्तु उन परिणतियोपर दृष्टि देनेमे होने वाली परिणति अकुलता पूर्ण ही मिलेगी।

परिणति होनेसे कौन मना कर सकता है। परिणति मिट जानेका अर्थ तो यह है कि वस्तु मिट जावेगी। वस्तु कभी मिटती नही, परिणतियोका होना कभी समाप्त होता नही। क्या कोई वस्तु ऐसी है जिसकी परिणति नही होती है।

परिणतियोके बारेमे कुछ भी सोचना व्यर्थ है। सार्थ तो निज कारण समयसाररूप ध्रुव तत्वका परिचय है।

कषायोकी परेशानी अत्यधिक है, उसके दूर करनेका उपाय नित्य अकषाय स्वरूप निज चैतन्य प्रभुकी उपासना है। यदि सीधा यह उपाय नही बन पाता तो ऐसा कर लिया करो—

कि असार रूपसे परिचित किये गये बाह्य द्रव्योमे अपना उपयोग हटाकर गुम्म सुम्म हो जावो।

१४ फरवरी १९५८

सत्सगका अर्थ है भला सग, भलेका सग भलेके लिये सग, भले भावो द्वारा सग।

सत्सगसे एक कार्य तो हो चुका, क्या असत्सगकी निवृत्ति, अब एक कार्य और होना है, वह क्या ? सर्वथा सर्वसगकी निवृत्ति।

सग किसने बनाया है ? उपयोगने। सग कहाँ बनाया गया है ? स्वक्षेत्र मे। सँग किसका बनाया गया है ? विरुद्ध भावो पर्यायोका। इन सबका मतलब क्या मतलब यह है। इसका—कि उपयोगने क्रोध आदि आभ्यन्तर परिग्रहो को पकडा है सो आत्मामे ही क्रोधादि आभ्यन्तर परिग्रहोका सग अर्थात परिग्रह बन गया है।

इस सगको निज निःसगकी भावनासे बहुत शीघ्र हटाओ। अन्यथा

अपनेपर अदया करते हो।

शान्ति तो अभी भी प्रतीक्षा कर रही है। हे उपयोग! तू विभाव भावका आदर करके शान्तिका तिरस्कार क्यो कर रहा है।

मनुष्य जीवनका सबसे उच्च वैभव है सदाचार। सदाचार। खोकर यदि धन भी प्रचुर एकत्रित कर लिया, प्रजापर नेतृत्व भी कर लिया तो भी वह हानि ही है।

सदाचारमें प्रमुखता शील की है। शील रहित व्यक्तिका मन, वचन और काय सबल नही रहता अतएव च स्थिरताके अभावसे शीलरहित व्यक्ति आ-कुलित बना रहता है।

१५ फरवरी १९५८

आजसे इन तीन बातोपर यत्न किया जाय।

१—प्रतिदिन मौन ११ घन्टेका हो किन्तु आवश्यकतानुसार १ घन्टा मौन और कम कर दिया जाय। गुरुजीके सामने मौन न हो। उत्सव व अधिवेशना-दिमे आवश्यकता व पूर्वनिश्चयके अनुसार मौन कुछ और कम कर लिया जाय।

२—सामायिकके अतिरिक्त भी प्राय बहुत समय आख बन्द करके ध्यानमे बिताया जाय।

३—प्रात कालके निश्चित प्राय आधा घन्टाके अतिरिक्त शरीरकी कोई सेवा न कराई जावे। अत्यधिक रोगमे कुछ समय सेवा लेना अपवाद रहे

आज शिखरजी की यात्रा की, यात्रा करते हुए मे उक्त तीन बातो के यत्नकी प्रेरणा मिली।

सर्वनियमोमे सार याने नियमसार ता निज ध्रुव चेतन्य स्वभावकी दृष्टि है। अनाद्यनन्त अहेतुक इस निज चैतन्यस्वभाव के उपयोगमे सर्व प्रत्याख्यान, सर्व प्रतिक्रमण, सर्व आलोचना, सर्व तप गर्भित हैं, क्योकि इन सबका प्रयोजन भी विकल्पसे हटाकर स्वभावकी ओर पहुचा देना है।

प्रिय! जब तक सकोच और अपेक्षा रहेगी तब तने कुछ भी नियम नही

निभा सकते और तब तक धर्म पालन भी कठिन क्या, असभव है।

अपेक्षा करनेका कारण राग अथवा मोह है। अपेक्षा रागकी पुत्री है। उसका जाग भी विकट गहन है। आत्मस्वभावको देखा, आत्मस्वभावनिरपेक्ष है। सदा आश्रय करनेसे परिणमन भी अपेक्षा करनेके कष्टसे मुक्त हो जायेगा।

१६ फरवरी १९५८

छिपे हुए मनको निष्पक्षोन एव साहसके साथ निभा ले जाना आत्मीयका प्रसाद है।

ससारके प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमते रहते है। उनका परिणमन उनका ही शक्तिका विकास है। उनका परिणमन उनके ही आधीन है उनमे अन्य कोई कुछ कर ही नही सकता।

प्रिय आत्मन् अब उठ। अधम पदसे ऊपर आ। विभावकी रति तोडकर स्वभावमे रुचि कर। बाह्य पदार्थ तो अपनी सत्तासे स्थित हैं। वे तुझमे कुछ सुधार बिगाड नहीं करते। उन्हे अपने आपके परिणमते रहनेसे तो फुरसत नहीं है तथा वे अपने प्रदेशोंसे बाहर सत्ता नही रखते है, क्या करेंगे वे अन्य मे।

आत्मन्। विश्राम तो गृह। परसे कुछ होता ही नही तुममे जब तो फिर अज्ञान ही क्यो कर रहे हो। बाह्यमे उपयोग क्यो दे रहे हो।

अनादिकालसे अबतक मालूम होता है कि उत्कृष्ट आत्मीय पुरुषार्थ ही नही किया। टक्कर खाये, दुर्गतियोमे गये, भग कुछ घात किया किन्तु स्वभाव दृष्टिरूप अमृतके पान करनेकी बात मनमे नही समाई।

हिम्मत करो और स्वभावदृष्टिके बनाये रहनेका ही यत्न रखो।

१७ फरवरी १९५८

मैं ध्रुव ज्ञानस्वभावी सत् चित्स्वभावी आनन्दमय केवल अपनी उद्दण्डता यत्रवाभूलसे क्लेशका पात्र होरहा हूँ। मुझे दुखी करने वाला अन्य कोई ही,

है। दुख भी अन्य कुछ नही है। दुःख मात्र अपनी परविषयक कल्पना ही है। देखो! कुछ अटा   है नही कि परका विचार किया ही जावे, परकी उन्मुखता की ही जावे। उस कार्यमे लाभ नही, हानि ही हानि है उस कार्यको करते ही क्यो हो

अपना ही विचार करो अपना ही चिन्तन करो। अपने आपमे ही अपना उपयोग लगाओ। लिखनेके समय अपने मे उपयोग नही है, किन्तु अपने मे उपयुक्त होने की प्रेरणा मिलती है। लिखते लिखते लिखनेका विराम लेकर स्वोपयोगी बन सकते हो मुक्त। पढते पढते पढनेका विराम लेकर स्वोपयोगी बन सकते हो। सुनो सुनो, सुनने का विराम लेकर स्वोपयोगी बन सकते हो।

'ॐ शुद्ध चिदस्मि'।

कुछ अपनी विशुद्धि ही कार्य कर पाती है। फिर भी पूर्व संचित विशुद्धि संस्कार नही है तो उपाय द्वारा विशुद्धि बना सकते हो। जिस किसीका भी विशुद्धि बनी वह पहले अविशुद्ध ही तो था। निज स्वभावालम्बन ही एक श्रेय है जिसके कारण अविशुद्धिका व्यय और विशुद्धिका उत्पाद होता है।

स्वभावके स्वरूपको विचार विचार स्वभाव की दृढ भावना करो।

१८ फरवरी १९५८

स्वभाव आनन्दका निकेतन है। बाह्यमे उपयोग न देकर स्वभावमे उपयुक्त रहे कोई तो वहा विषाद तो रच भी नही रह सकता। कल्पनाकी घुडदौड बाह्य पदार्थके उपयोग होने पर होती है।

धर्म और आनन्द निजतत्त्वमे है याने निज स्वभावमे है अन्यत्र यही न भटको, तीर्थराज यह स्वय है। संसार सागरसे यही चैतन्य प्रभु तिरकर पार जावेगा। चैतन्यस्वरूपके अनुभवमे जो आनन्द है आनन्द तो वही है, अन्य कुछ मे तो, आनन्द की आनन्दताका महत्त्व परम्परा से चला आ रहा था। अतः आनन्द शब्दकी वहा उपचरित हो गई।

प्रिय आत्मन्! अपनी दया करो, अपनेको उत्कृष्ट आत्माचारमे ले जावो। सहज समागम विपत्ति है।

वाहय समागममे लाभ की मान्यता रहेगी तो बडा धोखा खाओगे। वाहय पदार्थोको तो महापुरुषोने सर्वथा छोडा तब शान्ति पाई।

हमारी शान्ति हम ही मे है। किसी वाहय पदार्थके सुधार विगाडसे अपनी शान्ति अशान्ति मानना पर्यायव्यामोह है।

पर्याय दो प्रकारकी है १—व्यञ्जन पर्याय, २—अर्थपर्याय।

व्यञ्जनपर्यायमे आत्मबुद्धि करना तो व्यक्त मिथ्यात्व है किन्तु अर्थपर्यायमे आत्म द्रव्यत्वकी बुद्धि होना भी मिथ्यातत्व है। निज ध्रुव चैतन्यस्वभावकी रुचि जागते ही मिथ्यात्वका ध्वस हो जाता है।

१६ फरवरी १६५८

गृहीतमिथ्यात्व तो समभाये जाने पर सुगमतया दूर हो जाता है, किन्तु अगृहीत मिथ्यात्व स्वयके महान् पुरुषार्थसे दूर हो पाता है।

शान्ति तो वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञान विना हो ही नही सकती। इस सुगम सरल सीधे उपायको न किये जाने से धर्मके नामपर पूजा यात्रा दान आदि वहुत कर चुकनेपर वह प्राणी यह पूछता है, महसूस करता है कि वहुत कुछ सब कुछ यह किया किन्तु सुख नही मिला, शान्ति नही मिली। उनका ऐसा महसूस करना उचितयुक्त है। शान्तिका उत्पाद वाह्य पदार्थके उपयोगसे नही हो सकती। उसका मुख्य कारण यह है वाहय पदार्थ मेरे आधीन नही है। हम वाहय पदार्थमे उपयोग लगाते है, चाहते है कि यह मेरे पास रहे यह ऐसा बने आदि किन्तु यह मेरे परिणमनके आधीन नही है। अतश्च इच्छानुसार उसका (वाह्य पदार्थका) परिणमन होता नही और इसी वातको देखकर फिर दुखी होना पडता है वाहयोपयोगीको।

स्व—आत्मा ध्रुव है उसका कभी वियोग अपनेसे नही होता तथा यह ध्रुव आत्मतत्व कभी वदल नही जाता अर्थात् विपरीत स्वभाववाला या अचैतन्य नही हो जाता। अत निजस्वभावकी दृष्टिमे अशान्तिका उत्पाद नही, शान्ति का ही विलास है, विकास है।

२० फरवरी १६५८

चेतन तीर्थ की रक्षाकरना तीर्थ रक्षा है। अचेतन तीथो की रक्षा भी चेतन तीर्थ की रक्षा के लिये है। यदि चेतन की रक्षा का, चेतन को सत्यरक्षा का यदि वर्तन नही है तो अचेतन तीर्थ की रक्षा का अर्थ क्या है ? कुछ नही।

शान्त सुखी तो होता है खुद को और खुद की पहिचान न करे या खुद की परवाह न करे तो शान्त सुखी होने का रास्ता क्या मिल सकता है ? नही।

खुद पर ही अशांति बीतती तब अशान्ति मेटने के लिये खुद पर ही कुछ करना है बाह्य पर कुछ नही करना है।

मेरे प्रिय ! देखो तो जब खुद ही मलिनोपादन हो तब मलिनता आती ही है, मलिनरूप तुम्हे परिणमना है उस समय जिसका विचार करके तुम मलिन रूप परिणमोगेवही निमित्त कहलाने लगता है।

माना कि किसी दिन कोई पर पदार्थ क्रोध मे साक्षात् सन्मुख उपस्थित निमित्त था किन्तु कितने ही दिन बाद वह पर पदार्थ सन्मुख न होने पर भी क्रोध के समय विचार रूप मे निमित्त बन जाता हे, यह क्या लीला है। बस यही बात हे कि तुम मलिन उपादान हो सो मलिन परिणमने के लिये कुछ सोच ही लोगे। सोचने मे वही आता है जो पूर्ण परिचित होता हे।

* * *

२१ फरवरी १९५८

वाह्य पदार्थों के प्रति तो यह वात वहुत कुछ सभव है कि जव उपादान मलिन है तव किसी न किसी का विचार करके विभाव का विकास करता ही रहता है यह भोदू ससारी।

जव यह खुद मलिन है तो परिणमना भी तो मलिन है तो ऐसा परिणमते समय जो भी सन्मुख निमित्त मिल जावे उसे आश्रय वनाकर या पूर्व परिचित किसी विषयाभूत पदार्थ का विचार करके मलिनरूप परिणाम हो जाता है।

हाय रे हाय वडी विपदा है, परभाव महती विपत्ति है। औपाधिक भाव का महान क्लेश छाया हुआ है इस आत्मा पर।

अरे भाई अविरत सम्यग्दृष्टि या देशविरत श्रावक से तो लगता ऐसा है कुछ दृष्टि से कि मिथ्या दृष्टि ही चोखा है। मिथ्या दृष्टि गलत कार्य करता है तो वह कम से कम पछताता तो नही है। यह देश विरत या अविरत सम्यग्दृष्टि रुचि तो परम आत्म तत्व की है किन्तु वीतती है अन्य कुछ सो इस विभाव के वीतने का वडा पछतावा रहता है इसके।

लेकिन भाई। इस पछतावा वाले को प्रकाश तो मिल रहा है। पर्याय-प्रसन्न भोदू ससारी को तो प्रकाश ही नही है। इसका फल तो दुर्गति ही है किन्तु पाप के पछतावा वाले सुदृष्टि को सुगति ही फल मिलता है।

ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ तत्सत् परमात्मनेनम ।

२२ फरवरी १९५८

शान्ति सुख के लिये आवश्यकता है काय गुप्ति, वचनगुप्ति, व मनोगुप्ति की, किन्तु मूढ प्राणी काय, वचन व मन की घुडदौड मे लगा है शांति के लिये। फिर बतावो इसके शाति कैसे प्रकट होवे।

शाति कषाय के शमन बिना नही होती। पर पदार्थ के सम्बन्ध मे जो भी प्रोग्राम बनता हो वह हित रुप नही है यह तो निश्चित ही रखो।

ससार मे किसी भी दशा मे सुख नही है। शाति तो मात्र स्वरुप अवलम्बन मे है।

हैरानी हित के लिये व्यर्थ भोगी जाती है। भाव की ही तो लीला है। भाव ही तो बनाता है स्वको ओर का। इतनी हैरानी क्यो करते हो। विभाव को अहित समझकर विभाव से अनुपयुक्त होकर चैतन्य स्वभावी निज समयसार प्रभु की उपासना करो।

तप तो यही है कि इच्छायें होती हो उन्हे अहित परभाव एव क्षणिक परिणमन जानकर इच्छा का निरोध करो।

इच्छा होती है, होने दो, तुम उसके ज्ञाता बन जाओ। यह औपाधिक भाव है मेरे क्षेत्र मे व मेरे गुण का परिणमन होकर भी नह औपाधिक भाव है, अतश्च परभाव है।

परभाव से स्नेह न करो, ससार विकट खेल है। अनादि से भ्रमण कर कठिनाई से नर देह पाया है अब विषय कषाय को जलाजलि दो।

२३ फरवरी १९५८

कितनी ही बाह्य सयोगो की फेसेलिटी [Fasality] हो भाव का पतन नही करना, सदाचार से न गिरना। यह ही सच्ची विभूति है।

समय तो गुजर जाता है किन्तु अन्याय से कर लिये गये कार्य की शल्य दुःख का कारण हो जाता है।

आत्मा मे स्वभाव से कोई शल्य नही है। निजोपयोग से च्युत होकर आत्मा स्वय शल्यमय हो जाता है। बता, कौनसा पर पदार्थ तेरे हित का

साधक है। एक का दूसरे मे सत्व ही नही है, फिर सम्बन्ध ही क्या। रह गया विभाव परिणमन, सो वह तो परिणमने वाले की ही विशेषता है कि वह कब किसको निमित्तमात्र पाकर कैसा परिणम जाय।

एक अविचल ज्ञायकमात्र चैतन्यस्वरूप की परख कर लेने वाला भव्य ही विभूतिमान है।

जड विभूति मिली तो क्या मिली, प्रथम तो यह आत्मा मे अत्यन्त भिन्न है, पर पदार्थ है, जड है, दूसरी बात यह है कि उसका सयोग किचितकाल तक है। वियोग पर वस्तु का नियम से होता है।

जड ही जड का सयोग चाह सकता, विपं की तो निज ध्रुव तत्व की ओर ही आकर्षित है।

मूढ का मूड (Mood) मूल पर नही चलता अतएव उसके भूल का सूल लगा ही रहता। इसी कारण धूल मे उपयुक्त रहता और भवकूल प्राप्त नहीं करता।

२४ फरवरी १९५८

ससार महान् दुःखसागर है। ससार भी भावससार को कहते है। जिस भाव को पर का आश्रय है याने पर को निमित्तमात्र पाकर जो भाव होता है वह विविध विषय होता है। पर का उपयोग छोडो तब अनुभवगम्य यह बात हो ही जाती है कि यह ज्ञान वह आनन्द एकस्वरूप है। स्थिरता का तो अन्तर है किन्तु चाहे अविरतसम्यग्दृष्टि ही चाहे देशविरत श्रावक हो चाहे मुनि, होता सबके एकस्वरूप ही आनन्द व ज्ञान।

निरन्तर या तो सत्सग रहे या एकाकी निवास रहे। विषय कषाय का गुरुतर भार जीव को सता रहा है। यह भार सनातन चैतन्यप्रभु की उपासना बिना दूर नही हो सकता।

सहज सरल शरण स्वरस का अनुभव आत्मीय आनन्द का विकास है। आनन्द आत्मीय वैभव है यह ज्ञानानुसारी है। शुध्द ज्ञान मे शुध्द आनन्द है, अशुध्द ज्ञान मे अशुध्द आनन्द है।

अभेदविचार से तो आत्मा एक सत् है और उसकी प्रति समय की पर्याय एक एक ही अभेदरूप है। भेद विचार से आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनेक गुणो की दृष्टि से अनेक रूप है जैसे ज्ञानमय, दर्शनमय, आनदमय आदि। इसीप्रकार भेदविचार से पर्याय भी एक समय मे अनेक है जैसे ज्ञान परिणमन, दर्शनपरिणमन आनन्दपरिणमन इत्यादि।

भेदविचार तो आत्मा के परिचय के लिये है, और अभेदविचार आत्मानुभव के लिये है॥

२५ फरवरी १९५८

आप ही अपना अधिकारी व जुम्मेवार है। अत प्रतिसमय परिणाम निर्मल रहे इसका यत्न रहना चाहिये। इसके अर्थ सामान्य सत्सग और स्वाध्याय की आवश्यकता है।

शहर के बीच ठहरकर परिणामो की निर्मलता चाहना ऊट से राग चाहने की तरह है। ठहरना चाहिये शहर के आखिरी भाग मे किसी मकान पर

यद्यपि सर्व भावो मे आत्मा की स्वतन्त्रता है। सर्व परिणमन स्व के तन्त्र ही होते है तो भी देखो परिणाम निर्मल कर लेना, स्वभावदृष्टि कर पाना आदि कितने कठिन जच रहे है।

अहो ली हुई साधारण प्रतिज्ञा तोड देना भी आजीवन कमजोरी को जड बनाना है। बात तोलकर मुख से बोलना चाहिये। न बोलने की पकड नही है बोलकर न निभाने की पकड हो जाती है।

कर्मबन्धन व कर्मोदय जड होकर भी ईमानदार तत्त्व है। कोई कितनी मायाचारी रखे कर्म प्रसग अचूक कार्य है। कर्मबन्ध हो ही जाता है।

सर्व व्यवस्था प्राकृतिक है। प्रकृति से उत्पन्न है।

भाव ससार का भय करो, निर्मलता व धर्मानुराग का सचय करो।

२६ फरवरी १९५८

किसी भी पर पदार्थ का आश्रय मत लो। कोई भी पदार्थ तुम्हारा

मौके का लाभ उठावो। पर की ओर से पूर्ण उपेक्षित हो जावो। स्नेह, सकोच, विरोध, मात्सर्य, घृणा, परनिंदाभाव, आत्मप्रशसाभाव इन सात व्यसनो का त्याग करो।

अपना आचार परिपूर्ण रखो फिर कुछ भय नही। मन, वचन, काय की दृढता सद्विचार से ही होगी।

दुर्विचार आत्मवीर्य नष्ट कर देता है इतना ही नही देहवीर्य की हानि भी कर देता है।

आत्म स्वभाव भावना ही अमृत है। सत्य यही है। इसके विना आत्मरक्षा है ही नही। ऊ शुध्द चिदस्मि।

२८ फरवरी १९५८

सम्यक यही है कि दुख का विपदा का स्वागत करो और और अपने आपको अकेला ही अधिकारी, उत्तरदायी सर्वस्व जानकर प्रसन्न रहो।

दुख कुछ है ही नही जो आत्मा पर वीतती है उसे जाननहार बन जाओ। दरिद्रता का तो कुछ अर्थ ही नही है। वाह्य वस्तु यहा नही है और कही है तो क्या मतलव दरिद्रता का। अगर दरिद्रता कहो तो भावो को मलिनता को कहो। विवाद कही नही है, सब अपने आपमे परिणम रहे है। विवाद कहो तो इसमे हुआ कि मोही ने पर से अपना सम्बन्ध माना। मर्मभेदी कोई वात हुआ ही नही करती। अज्ञानी अज्ञान वल से अपना मर्म भेद लेता है सो वह ही वातचीत को अपना मर्मभेदी मानता रहता है।

आत्ममर्म के जाननेरूप धर्म के वल से भर्ममर्म भेदकर कर्ममर्म का पर्दा तोडकर परम शर्म की प्राप्ति कर लेना धर्मी पुरुष की परमकला है।

श्रीपति जिनेन्द्रचन्द्र की ध्वनिकिरण पाकर विभाव जल वहाकर अकिंचनव निष्फल हो जाना चन्द्रकान्त भव्य की भव्य लीला है।

चैतन्यचिन्ह चेतन के परिचय से कर्मचमू की शक्ति शिथिल हो जाती है। अत इस निज चैतन्य महाप्रभु का चिन्तन करके सर्व चिताओ को चिता वनादे यही जिनेन्द्रचन्द्र की मुख्य देशना है।

१ मार्च १९५८

सत्य सत् मे होने वाली बात को कहते है। जो सत् मे हो वह तो अध्यात्म मे मुख्य प्रतिष्ठित है और जो एक सत् की बात को दूसरे सत् के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध कहता है वह उपचरित है याने व्यवहार दृष्टि से देखे जाने पर एक सत् के समीप (उप) चरित याने दूसरा सत् चरित याने अपनी वर्तना से परिणत स्थित है।

सत् सामग्री सत् ही है। सत् का साधन सत् ही है। सत् का साध्य सत् ही है। सत् का सत् ही है। सत् मे सत् है सत् सत् के लिये, ही है सत अपने सत् मे होने वाली बात से चिग कर अपने सत् मे होने वाली बातमे आता है। यह वस्तुस्थिति प्रत्येक सत् की है।

अपनी सत्य चर्चा अपने हित के मार्ग मे ले जाती है। अपनी चर्चा करो अपनी चर्या करो, अपना चर्खा चलाओ।

स्व सत् के स्वभाव को दृष्टि द्वारा समतारस का स्वाद लेकर सत्य शाश्वत आनन्द की सिद्धि कर।

आनन्द निज स्वभाव की दृष्टि मे है। वाह्यदृष्टि मे आकुलता ही है वाह्य कुछ क्या तेरा विधाता है, क्या है ? जो अपने आपकी दृष्टि से हटकर वाह्य की ओर खिचे फिरते हो। इस वेढगी रफ्तार मे शान्ति कभी न मिलेगी। शांति तब मिलेगी जब सम्यग्ज्ञान करके अपने आपमे निष्ठ हो लोगे। निज को निज पर को पर जान। फिर दुःख का नही लेश निदान।

२ मार्च १९५८

निज स्वभाव पर दृष्टि न होगी तो कितने ही वाह्य प्रयत्न करलो, शांति न होगी। शांति तो शांति के मार्ग से होती है शांति के मार्ग से विपरीत मार्ग पर चलने से शांति कभी नही हो सकती।

संस्थानविचयधर्म्य ध्यान की उत्कृष्टता साधु के होती है इसका कारण यह है लोकस्वरुप का ध्यान शांतिमार्ग मे अधिक सहायक है।

हे आत्मन्। अनन्तकाल तो खो दिया भवरोग मे प्रेमी बनकर, बता भुक्त

तत्वमें मे क्या साथ है आज।

यह समागम, यह सयोग, यह अध्रुव परिणमन यह सब कुछ न रहेगा तेरे समीप। तू तो तू ही है अकेला है, सबसे पृथक है, विभक्त है और है ध्रुव। तू अपने स्वभाव को देख। यही से सब सृष्टि होती है। स्वभाव को देखेगा तो स्वभाव सृष्टि होगी, स्वभाव को न देखेगा विभाव सृष्टि होगी।

ऊ तत्सत् परमात्मने। ऊ सत्य शिव सुन्दरम्। ऊं नम सिद्धेभ्य ऊं शुद्धं चिदस्मि। ऊ तत्सत्। हरि ऊ जिन ऊ शिव ऊ। असतोमा सदगमय। तमसोमा ज्योतिर्गमय।

निमित्त पाये विना विभाव नही होता है। सो जब कषाय, विभाव होरहा है तब यह तो सुनिश्चित है कि कर्मोदय इस समय ऐसा ही है, किंतु व्यवहार दृष्टि के इस लक्ष्य को ही रखने पर कषाय से मुक्त होने का उत्साह व अवसर कैसे आवेगा। अत निमित्त नैमित्तिक भाव पूर्व का जो होता है उस पर ध्यान न रखकर निश्चयनय के विषयभूत एक निज तत्व पर ध्यान दो उसे चाहे निरपेक्ष जानो चाहे परिमतिसापेक्ष जानो। जानो एक अपने आपको ही।

३ मार्च १९५८

मुझे अब और कुछ नही सुहाता है। अब मे इस कार्य मे कदम बढा सकता हूँ और बढाऊगा। किसमे ? जैसा कि नियम लिया गया था कि अधिक से अधिक टाईम मौन मे और आखे बन्द करने मे बिताना और ऐसी स्थिति मे रखकर निज आत्मा का आश्रय और सिध्द प्रभु का आश्रय लेना।

अब तक के किए हुए दुष्कृत मिथ्या है। जीव की कमजोरी है मन से, वचन से, काय से दुष्कृत हो जाते है। मन से, वचन से, काय से, होने वाले दुष्कृतो मे साधारणतया ही अन्तर है स्थूलरूप से एक से है।

यद्यपि ये पाप परिणाम जब हुए थे तब हुए थे अब वर्तमान मे नही है तो भी स्वभाव दृष्टि के अवलम्बन क विशेष अभ्यास बिना वैसे ही पाप अब भी हो सकते है ऐसा सस्कार अनर्थ करता ही रहता है। अत गत का सोच न कर वर्तमान की निर्मलता करना ज्ञानी का कार्य है।

मैं भी आत्मा हूँ ज्ञान और आनन्द का रचा हुआ हू। जो भी सिद्ध हुए है वे भी हम जैसे ही कभी थे। उनने अपनी पूर्ण निर्मलता प्राप्त कर ली और मै न कर पाऊ ऐसा क्यो होगा। मै भी ज्ञानानन्द स्वभाव की उपासना करके आनन्दमय रहूँगा। ऊ शुध्द चिदस्मि।

४ मार्च १९५८

आज उपवास हुआ किन्तु आत्मा के समीप वसना नही हो रहा है।

पर पदार्थ के ओर की दृष्टि होना ही उपद्रव है। उपद्रव अन्य और कुछ नही है। बाह्य पदार्थ से उपद्रव हुआ मानना मूढता है। एक पदार्थ मे दूसरा पदार्थ क्या परिणमन कर देगा।

आत्मा का ज्ञान करो व आत्मा मे उपयोग जमाये रहो इससे अतिरिक्त अन्य कुछ करना ही क्या है। आत्मसुख आत्म स्वभाव की दृष्टि मे है।

कर्म निमित्त भी एक ऐसी चीज है कि आत्मा की सत्यता जानकर भी, आत्मा के आश्रय से ही ज्ञान और आनन्द होता है ऐसी निश्चल प्रतीति होकर भी जिसके कारण बाह्य दृष्टि करनी हीं पडती है।

आत्मन्। क्या लीला है ? या तो यह कहो कि आत्म प्रतीति अभी हुई नही या फिर यह कहो कि कर्मोदय भी कोई विलक्षण निमित्त है। क्या कहे, आत्मप्रतीति तो अभी हुई नही यह तो कहा नही जाता, क्योकि अधिक से अधिक दुःख अथवा व्यामोह के समय मे भी, दुखी वखेद खिन्न होते जाते हुए भी रटने आत्म तत्व की लगी रहती है भीतर, निरन्तर अथवा उछल उछल कर। फिर तो कर्मोदय निमित्त की विशेषता की चर्चा रह जाती है।

क्या राग द्वेष के प्रबल भाव होते हुए भी कल्याण का मार्ग कुछ रह जाता है। हाँ रह जाता है, वह क्या ? वह यह कि तुम उस विपदा के ज्ञाता बन जाओ। भला बुरा जो कुछ बीते तुम पर, तुम उसके ज्ञाता बन जावो। यह सब निमित्त उपादान विधि से हो रहा है यो यो। ऐसी लीला को लीला मात्र से देखते जावो ऊ सत्यम् शिव सुन्दरम्।

५ मार्च १९५८

सर्व कुछ अपने आपमे देखो तो सर्वसिद्धि होगी। अभेद दृष्टि से तो यह अखण्ड एक आत्मा है। भेददृष्टि से इसमे अनेक गुण व अनेक पर्यायें दीखती है जिससे यह एक नगर है अथवा उत्सव है

अपना आत्मा ही अपना सर्वप्रिय है। उसकी बरबादी विषय कषायो से है उसकी आबादी स्वभावभावना मे है। सर्व कुछ त्याग कर एक परम अनाकुलता की सिद्धि हो तो वह एक परम श्रेय ही है।

वाह्य सब पदार्थ आत्मा से अत्यन्त जुदे है, पूर्ण भिन्न सत्ता वाले है। उनका ग्रहण ही नही हो सकता, फिर त्याग क्या करना अथवा त्याग भी उनका नही हो सकता, क्योकि सर्व वाह्य पदार्थ अनादि से ही अपने से छूटे हुए है, स्वभाव को देखो। विभाव को उपयोग से पकडे हुए हो, इसही पकड को छोडदो, लो त्याग हो चुका। यही सच्चा त्याग है।

धर्ममार्ग मे चलो धर्मरुचि से, निष्कपट भाव से, विषयो कषायो की ओर उन्मुख न होकर। वढे चलो अपने मार्ग मे, रमे चलो अपने स्वरूप मे, थमे रहो अपने उद्देश्य मे।

चित की अनेक वृत्तियो के रोडे मार्ग मे अटकाने को बने हुए है। सावधान होकर वचकर चलो, अपने महामहिम स्वभाव के दर्शन मे रुचि करके फलो अपने स्वभाव परिरमरगन रूप मोक्ष फल से।

६ मार्च १९५८

पर की ओर रुचि करना लगता भले ही प्यारा हो किन्तु है बडा भारी तूफान। इस तूफान मे बहा हुआ प्राणी बरबाद हो जाता है। यह खतरा बुरा

है जो खतरा न जचकर सुखरूप मालूम पडे और हो महाभयकर दुरन्त विपत्ति ।

मन, वचन, काय का सयम रहे तो चैतन्य महाप्रभु के दर्शन होगे। अन्तर से हटकर बाह्य मे लग जाना महती विपत्ति है । जैसे कोई सुरक्षागृह से भागकर वचके दावानल मे गिर पडे तो उसकी कितनी मूढता है वैसे कोई आत्मानुभव से भागकर पर दृष्टि की ज्वाला मे गिर पडें तो उसकी कितनी मूढता है ।

आत्मानुभव में आत्मा साक्षात्प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी । ज्ञायक स्वभाव के प्रकाशरुप मे तो प्रत्यक्ष है, आकार, व्यजन पर्याय इनके प्रकाश मे ज्ञान, दर्शन, सुख के अतिरिक्त अन्य गुणो के प्रकाश मे आत्मा परोक्ष है।

आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
पर द्रव्यस्य कर्तात्मा माहात्य व्यवहारिणाम् ॥

शिवमस्तु, कल्याणमस्तु ज्ञानस्वभावदृष्टिप्रमादात् ।

पाप परिणाम होते ही आत्मवीर्य की हानि होती है जिससे आकुलता ही प्रमाद मे मिलता है । आत्मन् । जब जो हुआ वह तब ही था वर्तमान पुरुपार्थ सम्हाला तो सब सम्हाल लिया । वर्तमान उपयोग का निर्विकल्प बना रहना वर्तमान की सम्हाल है । इसका उपाय निर्विकल्प चैतन्य स्वभाव का अवलम्बन है ।

७ मार्च १६५८

हमे वह मर्म अथवा निशाना समझना है जिसको ग्रहण करके उस ही मे रहकर परम सुखी रह सकें । ऐसी स्थिति को ही कल्याण कहते हैं ।

कल्याण के अर्थ २ बाते आवश्यक होना पडती है—पहिले तो वह निशाना समझना दूसरे फिर उस निशाने मे जम जाना । यहा समझने का उपाय व्यवहार है व जमने का उपाय निश्चय है । और इस प्रकार हमारे कल्याण के लिये यथासमय व्यवहार और निश्चय दोनो हमारा उपकार करते है ।

यहा उपकार मे अन्तर है। व्यवहार के द्वारा किया हुआ उपकार निश्चय का काम नही है और निश्चय के द्वारा किया हुआ उपकार व्यवहार का काम नही है। फिर भी व्यवहार के द्वारा उपकृत हुए बिना निश्चय का उपकार नही पा सकते और निश्चय के उपकार हुए बिना व्यवहारकृत उपकार व्यर्थ हो जाता है।

हा तो कल्याण के अर्थ पहिला समझना आवश्यक है। फिर जमना आवश्यक है। कभी ऐसा भी होता है कि समझ गये किन्तु जमना अधिक नही होता, हटना पडा रहना होता है वहा पुनरपि समझना, चर्चा आदि व्यवहार करना पडता है, करना पडे मगर वह व्यवहार की वृत्ति भी निश्चय की उपासना है, जैसे किसी के ससुराल से आये हुए किसी भी जाति के आदमियो की खातिरी स्त्री की खातिरी है। यह वृत्ति अपनी स्त्री की खबर देवर के लिये है। वैसे ही इस ज्ञानीकी यह व्यवहार वृति निश्चय की उपासना की सामर्थ्य बढाने के लिये है। स्वभाव दृष्टिही हमारी सच्ची माता है।

८ मार्च १९५८

शुद्ध चित्स्वरूप का स्मरण ही शरण है, मगल है। यह निश्चित है कि जो आनन्द अपने एकत्वस्वरूप की उपलब्धि होने पर होता है वह तीनो लोको के वैभव मे भी नही होता।

बडे बडे पुरुष सब कुछ पर वैभव पाकर भी शान्त न हो सके और ज्ञान बल से निज शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन को शरण मानकर पर वैभव को छोड कर आत्ममग्न हूए थे।

जो बडे करें वही मार्ग है ऐसा निर्णय करने वाले यथार्थ बड पुरुषो का चरित्र समझे। मोही विषयान्ध पुरुषो मे बडे मानने का भ्रम कर कुपथ मे न जावे।

यहा जिनकी प्रतिष्ठा हो रही है और जिस बात से प्रतिष्ठा हुई है ऐसे परोपकार आदि कार्यों मे व्यस्त है उनपर आश्चर्य न करो किन्तु कृपा करो।

यहलोक शुद्ध चित्स्वरूप के मर्म को जाने बिना दुःखी है। किन्तु किन २ पर पदार्थो का आश्रय लेता है। आश्रय तो ले नहीं सकता, किंतु कल्पना मे उनको हितरूप मानना व उनकी ओर उपयोग देना।

दुःख है तो केवल परचिंता है। सुख के भण्डार ज्ञान मे आकर निज द्रव्य मे उपयोग लगाने वाले को कहाँ तो चिंता है और कहा क्लेश है। वह तो अद्भूत और अनुपम सत्य सुख के स्वाद मे निरत है। ॐ शुद्धचिद्योऽहम्। ॐ शुद्ध चिदस्मि। ॐ तत्सत्।

६ मार्च १६५८

जीव मे सद्भूत चैतन्यस्वभाव है। सद्भूत तत्त्व वह है जो वस्तु मे एकमेव रहे, अनाद्यनन्त रहे। यह सद्भूत भूतार्थ, सत्यार्थ स्वरूप, स्वभाव आदि नामो से पुकारा जाता है।

जो आत्मा निज के सद्भूत तत्त्वो को पहिचान लेता है वह तो स्वसमय है और जो असद्भूत तत्वो को ही स्व मानता है वह परसमय है।

षट् द्रव्यो के स्वरूप का यथार्थबोध होना उत्तम भवितव्यता का प्रतीक है। ६ द्रव्यो का ज्ञान होना शान्ति के लिये अत्यावश्यक है। ६ द्रव्यो का क्रम भी कितना प्रयोजन विचार कर आर्ष मे ऋषियो ने निबद्ध किया है सो देखो– प्रथम तो हम सब जीव है। जीव को ही कल्याण करना है क्योंकि जीव मे ही सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान हैं। अत जीव का निर्णय करना प्रथम आवश्यक कार्य है। इस जीव का पुद्गल से अनादि परम्परागत सम्बन्ध चला आ रहा है जिसके निमित्त से दुःखी हो रहे है उनसे भेद करने की परम आवश्यकता है अतः पुद्गल का यथार्थ ज्ञान करना एतदर्थ जीव के बाद पुद्गल का नाम रखा। जीव क्रियाशील है पुद्गल भी ऐसा ही है इन दोनों की क्रिया के बारे मे जीव को मिथ्या धारणा हुई कि क्रिया का कर्ता मैं ही सहज स्वभाव से हूँ, अथवा कर्म है या ईश्वर है इस धारणा के हटाने के अर्थ धर्म द्रव्य का नाम

दिया है कि क्रिया मे निमित्त धर्मद्रव्य है। इसी प्रकार स्थिति याने ठहरने मे भी उक्त प्रकार का भ्रम हुआ उसके निराकरण के अर्थ अधर्म द्रव्य दिया। ये सब आकाश मे ही है इस भ्रम के दूर करने अर्थ आकाशद्रव्य अलग लिखा कि निश्चयत सभी द्रव्य अपने आपमे रहते है व्यवहारत. आकाश मे है। इन सब का कर्ता समय ही है अथवा समय ही ईश्वर है इस भ्रम को मेटने के अर्थ परिणमन के निमित्तमात्र काल द्रव्य का नाम लिखा है।

१० मार्च १९५८

शरीर से भिन्न आत्म द्रव्य के अनुभव के अर्थ बडी हिम्मत चाहिये शरीर के भले चगे रहते हुए और आत्म तत्व की चर्चा करते हुए यह बडा सुगम लगता है कि मुझे आत्मद्रव्य के एकत्व की प्रतीति हो गई। किन्तु आहार न मिलने पर या रोगादि होने पर शरीर से भिन्न आत्मद्रव्य की दृष्टि रखले जिसका कि चिन्ह आत्मसतोष है, तब समझा जावे कि अब सचाई है।

आत्मद्रव्य की अनुभूति की भारी चर्चा करने वाले खाने पीने व शरीर के आराम की ज्यादह परवाह रखें इसका क्या अर्थ है।

परिग्रह मे इच्छा रखने वालो को आत्मानुभूति होना कठिन है। धन की चाह, अभी मुझे करने को यह काम पडा है ऐसी बुद्धि, परोपकार का कार्य करना पडा हुआ है ऐसी बुद्धि, धर्मप्रभावना करने के प्रोग्राम बनाना, अमुक सस्था को इतना व्यवस्थित बनाना है ऐसा भाव, अमुक सस्था खोलनी है ऐसी इच्छा, आदि ऐसे परिग्रह हैं जिनके होने पर आत्मानुभव का अभाव, मरणभय, आकुलता, अधीरता आदि फल साथ रहता है।

वेताग जीवन का बहुत बडा मूल्य है। लाग जीवन की रच महत्ता नही है बल्कि तुच्छता है।

११ मार्च १९५८

आत्मा का वैभव सयम है, सयम आत्मज्ञान विना नही होता, आत्म ज्ञान, आत्मप्रतीति विना नही है। सयम विना नर जीवन व्यर्थ है। इसका भाव यह हुआ कि आत्म प्रतीति, आत्मबोध व आत्म सयम विना यह जीवन व्यर्थ है। सयम की रक्षा मे आत्महित है, शरीर की रक्षा मे आत्महित नही है। यदि शरीर की शीर्ण दशा मे सयम पर भी आक्रमण होने लग जाय तो विवेकतो यह है कि सयम की रक्षा करे, शरीर की रक्षा का यत्न छोडदे। करते बने या न बने यह जुदी बात है किन्तु तथ्य तो तथ्य ही रहता।

जो कुछ दिखता है जड है, जड मे प्रीति करना विवेक नही है।

आत्मन् तुम चाहते क्या हो सो बतादो अध्रुव तो ध्रुव हो नही सकता सो उसकी चाह तो अनुचित है क्योंकि इससे तुम्हे लाभ नही प्रत्युत हानि ही हानि है। जो तम्हारे लिये ध्रुव हो उसमे मगन होवो तो तुम्हे लाभ है।

तुम्हारा ध्रुव तुम्हारा आत्मा है उसमे भी तुम्हारी परिणति ध्रुव नही है केवल तुम्हारा स्वभाव ध्रुव है। अपने स्वभाव पर याने चैतन्यमात्र तत्व पर दृष्टि रखो तुम्हारा लाभ है याने तुम सहज आनन्द पाओगे। अपने को ऐसा अनुभवो— शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्वम्।

"ॐ शुद्ध चिदस्मि"

१२ मार्च १९५८

शुद्ध द्रव्य मे षड्गुणहानिवृद्धि के प्रकार

(१) प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त अगुरुलघु गुण हैं उनमे किसी अगुरुलघु मे हानि और किसी मेवृद्धि के भेद से षडगुणहानिवृद्धि है, किसी एक ही अगुरुलघु गुण मे हानि वृद्धि दोनो एक साथ नही हो सकती।

(२) प्रत्येक द्रव्य मे अगुरुलघु एक एक ही है किन्तु विभुत्व गुण के कारण अगुरुलघुगुण सब गुणो मे व्याप्त है, सर्वगुणो मे कोई गुण हानिरूप एकसमय को प्रवर्ते हैं कोई गुण वृद्धि रूप प्रवर्ते है। यह हानिवृद्धि षडप्रकार की होकर भी गुण के पूर्ण विकास को नही रोकती।

(३) वस्तु अखण्ड एक सत् है उसको भेद दृष्टिमे देखे तो उसमे अनेक गुण मालूम होते है जब दो चार गुण ज्ञात हुए तब अनन्त भाग वृद्धि हुई, जब असख्यात गुण मालूम हुए तब असख्यात भाग वृद्धि हुई, तब इसी प्रकार और अधिकाधिक मालूम हो गये सो सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि होती है और इससे जब कम कम ज्ञात हो तब अनन्तभाग हानि, असख्यातभाग हानि, सख्यातभाग हानि, सख्यातगुण हानि, असख्यातगुण हानि व अनन्तगुण हानि हुई।

सयोग शान्तिका कारण नही होता वियोग शान्तिका कारण होता है। कुटुम्ब वियोग हुये विना साधु नही होता, कर्म वियोग विना शान्ति नही होती, शरीर वियोग विना सिद्ध नही होता। वस्तुका स्वरूप विभक्तत्व तो है किन्तु सयुक्तत्व नही। प्रत्येक वस्तुमे परका अत्यन्ताभाव होनेसे सदा शुद्धता है। दुनियामे कोई किसीका सगा नही है, मित्र वह माना जाता है जिसकी कषायसे दूसरेकी कषाय मिल जाए व ऐसा ही परिचय हो जाय। बन्धु, रिश्तेदार आदि भी वे ही है जिनकी कषायसे कषाय मिल जाय आत्मद्रव्य न अन्य आत्माका मित्र है, न बन्धु है, न शत्रु है। यहा भेद बुद्धि कर बोलो कषाय कषायका मित्र है, कषाय कषायका कुटुम्ब है, कषाय कषाय का शत्रु है, कषाय कषायका रिश्तेदार है।

१३ मार्च १९५८

जिस भाईकी कषायसे जिस सोदर भाईकी कषाय नही मिलती वह कह बैठता कि ये मेरा भाई काहेका है, भाई नही, दुश्मन है। ऐसा ही सर्वत्र अन्दाज कर लेना।

लोग कषायको अपनाते है, बातको अपनी बात समझते है। इसी बुद्धि के कारण विवाद उत्पन्न हो जाते हैं।

कौनसी बात मेरी है, कौनसी कषाय मेरी है, कौनसी परिणति मेरी है। परिणति एक समय को आई दूसरे समय विदा हुई। लोग उसीका ख्याल कर

अशुद्धता बढाते रहते हे। यह तो ऐसी बात हुई कि साप तो निकल गया, लकीर को पीटने लगे।

अपनी किसी परिणतिपर दृष्टि न दो निज द्रव्य स्वभावपर दृष्टि देते हुये मे जो परिणति बनती है बनो।

—अहो, अब मति व्यवस्थित हुई, सच हे बाहरमे करनेको काम भी क्या है, किया भी कुछ नही। स्वय की परिणतिको ही मात्र मे कर सकता हू। सो अब अपने आपके उन्मुख ही रहो। होता स्वय जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।

देहके आराम से या मनके अनुकूल प्रवृत्ति कर सुख मानने से काम नही चलेगा। आत्मा चिदानन्दस्वरूप व अमूर्तिक हे। इसका क्या यह काम है? कितना उल्टा चला जा रहा है। अन्तमे शान्तिके लिये तो यही करना होगा कि आप आप मे निस्तरङ्ग स्थिर हो जाये। जिस काम किये बिना गुजारा नही उसके विरुद्ध यत्न करके अपने पाव पर कुल्हाडी क्यो पटक रहे हो?

१४ मार्च १९५८

अन्तरसे मोहको त्यागो इस ही मोहके फलमे यह सहना पडता है कि बाह्यमे कोई प्रतिकूल पडता फिर भी उसे तुम्हे मनाना पडता।

गृहस्थ-श्रावकोका कर्तव्य है कि यदि पुत्रादि कोई प्रतिकूल अधिक चलने लगा तो उसकी उपेक्षा करदी जावे। उपेक्षा करने से अद्भुत शांति मिलेगी किन्तु यह उपेक्षा हर प्रकारसे सम्बन्ध तोडकर ही बनेगी। इस उपेक्षासे यह तो अलौकिक लाभ है ही किन्तु लौकिक लाभ एक यह साथ लगा हुआ हे कि वे उपेक्षित वे पुत्रादि सविनय उसकी सेवा मे हाजिर होगे। यदि फिरसे फसना हो तो आराम से वह फिर भी फँस सकता है।

एक ही ज्ञानीका लक्ष्य हे—निज आत्म तत्त्वमे निस्तरङ्ग स्थिरता। इस प्रोग्राममे लगे हुये ज्ञानीको यदा कदा आवश्यकता होती है देववदना, गुरु

सेवा, स्वाध्याय आदिकी तो उसका प्रोग्राम भी निभाता है किन्तु पूर्वोक्त लक्ष्यके लिये ये सब उपलक्ष्य कहलाते है।

१५ मार्च १९५८

किसी भी प्रोग्रामसे सम्बन्ध, किसी के वायदाका स्मरण भी आत्मानुभूतिके लिये कण्टक है। इन दोनो कण्टकोका अभाव-एक स्थान मे रहने से हो सकता है किन्तु वहा आपत्ति यह हो सकती है कि रागभावका प्रसङ्ग आ सकता है।

उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यदि एक स्थान चुना जावे तो वह ऐसा हो जहाँ कल्याणार्थी ही जाना चाहे। ऐसा स्थानतो शहर ग्राम हो ही नही सकता व्यापारका स्थान भी उपयुक्त नही हो सकता। शहरके अति समीप का स्थान भी नही हो सकता। आजके समयमे यदि ऐसे स्थान ढूंढे जाय तो ये हो सकते हे ? राजगृही, खण्डगिरि, मन्दारगिरि, गजपथा, सिद्धवरकूट, हस्तिनापुर, खानिया, मढिया, आबू, तारङ्गा आदि।

विहारमे भी उक्त उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है बशर्ते चलनेका प्रोग्राम एक साथ ५ मील से अधिक कभी न हो तथा स्वयका सामान केवल इतना हो कि चाहे तो स्वय ५ मील तक ले जाया सके।

अपनी वर्तमान परिणति से राग न करो। गत परिणमनका सोच न करो। स्वभावदृष्टि का यत्न करो। क्षण भर भी परके प्रति उपयोग न जावे ऐसी रुचि रक्खो। वचनव्यवहार कम रखो।

ॐ शुद्ध चिदस्मि। शुद्धचिद्रूपोऽहम्।

१६ मार्च १९५८

आज अलवर जानेका प्रोग्राम है, अलवरसे ४ भाई आये है। स्थिरता से पैदल विहार होते रहना किन्तु ५ मील ही एक बारमे चलना लाभकारक है। विहार मे सयोग अनेक होते हे उन सयोगो मे बुद्धि न फसे और सयोग

मे समागत प्रज्ञ धर्मात्माजनो से लाभ उठाना इन दो बातोका ध्यान रहना जरूरी है।

आज शाम दरोगाजी के बाग आये यह उजडा व शून्य बाग है। अलवर वाले व रिटायर भाइयो के सामानके लिये एक तागा था। मेरी नीद तो इस देखरेख मे उड गई कि कही कोई इस गरीब तागेवालेका घोडा न चुरा ले जावे साथ ही नीचे चीटे अधिक थे सो करवटे बदलने मे इनकी हिसा न हो जाय यह भी ध्यान रखना पडा।

रात्रि व्यतीत हुई चार बजे सामायिकमे ध्यान साधारण रहा।

१७ मार्च १९५८

आज सुबह जयपुर से १३ वे मीलपर एक प्याऊका स्थान है वहा आये। अलवर वालोने सबके भोजनादिकी शीघ्र व उत्तम व्यवस्था की। अग्रवाल भाइयोंके प्रबन्ध व धन व्ययकी पद्धति उदारतापूर्ण रहती हुई सर्वत्र देखने मे आई।

रात्रि को ८ बजे बस्ती से ६ मीलपर जगलमे लारीसे करीब ४५ नरनारी आये, पौना घटा प्रवचन सुनकर वापिस बस्ती लौट गये।

अतिनिरपेक्ष होकर रहने मे ही मनुष्य जन्म की सफलता है। दूसरो की चिन्ता मे यदि उपयोग को लगाया तो स्वय आध्यात्मिकता से रहित हो गया तब तो न अपने कामका रहा और न दूसरोके कामका रहा। तू तो अब मौन मे ही सारा समय बिता धार्मिक प्रयोजनवश ही तू बोल।

अत्यन्त स्वतन्त्रताका नाम तो मोक्ष है और भावमे अकर्तृत्व की प्रतीति होने से हुई परम उदासीनता जीवन्मोक्ष है।

आनन्दकी उत्पत्ति निर्विकल्प निज तत्त्वके आश्रय विना नही हो सकती है। परभाव अथवा पर केआश्रय से सुख अथवा दुख हो सकता है, आनन्द की कलिकाका भी वहा उदय नही है।

जगत्मे किसका कौन है ? किसके अर्थ वाहरी यत्न करते हो। दूसरो से क्या चाहते हो ? उनसे कुछ मिल सकता है ? अपने अस्तित्व पर श्रद्धा नही है क्या ? क्या तुम्हारा सत्त्व किसी अन्य पर निर्भर है ? तुम स्वत सिद्ध मत् नही हो क्या ? छोड दो विकल्प। सव स्वय अपने आपके स्वामी हैं। मिथ्या अभिप्रायका फल है पशु पक्षी नरक निगोदके भव मिलते रहना। आगये हो वहुत उपयुक्त पदपर इसका सदुपयोग करो।

१८ मार्च १६५८

मनुष्य यदि इन दो वातोपर अमल करे तो भी शान्तिका मार्ग पा सकता है। वे दो वाते भी व्यवहार व अध्यात्म की है, व्यवहारकी वात तो यह है कि जव वोले तव प्रिय वचन ही वोले। यदि शत्रुसे भी वोले तो भी प्रिय वचन वोले। किसीके निमित्तसे कष्ट भी उत्पन्न हो तो भी मधुर वचन ही वोले। मनुष्यके सत् असत् होनेकी पहिचान वचन ही तो है। वचनोसे ही लोग दूसरोको शत्रु वना डालते हैं और वचनोसे ही लोग दूसरोको मित्र वना लेते है। वचनोसे ही शत्रु मित्र वन जाता है, वचनोसे ही मित्र शत्रु वन जाता है। वचन अच्छा वोलनेमे न तो शारीरिक क्लेश हे और न कोई धनका व्यय हे। इतनी उत्तम विभूति पाके सभाषण करनेकी शक्ति पाकर भी यदि वचनोकी दरिद्रता की जावें तो वडा आश्चर्य है। कैसा भी अवसर आवे, वचनोको सभालकर ही जैसे दूसरो को प्रिय लगे वोलना चाहिये।

दूसरी आध्यात्मिक वात यह हे कि दिन रातमे कमसे कम दो चार बार तो यह भावना कर ही लेना चाहिये कि मैं शरीरसे जुदा चेतन पदार्थ हू। शरीरसे भिन्न अपने आपको पहिचान लेनेका वुद्धि होनेपर अनेको आपदाये स्वय समाप्त हो जाती ह। शरीर से भि न अपने आपको पहिचान लेनेपर यदि ससारमे रहना भी पडता हे कुछ समय तक तो उत्तम वेभवोके साथ रहता हे और अव्वल वात तो यह है कि वह यथाशीघ्र शरीर व कर्मके मलो से रहित होकर अविनाशी सत्य आनन्दका भोक्ता हो जाता है।

१६ मार्च १६५८

अन्य कोई कैसा भी वर्ताव करे चाहे वह अपने अनुकूल हो चाहे वह अपने प्रतिकूल हो, क्रोध न करना और भूले भटके साधर्मिजनो से रुचिकर वर्ताव कर लेना, हस कर अपने अपमानको भूल जाना, विजयके उपाय है।

तुम्हे तो कष्ट ही क्या है ? देखो सुकुमाल, सकौशल आदि मुनीश्वरो ने क्या क्या कष्ट सहे उनपर भी तो दृष्टिपात करो। सकट सहो और आत्मानुभव के लिये सदा उद्यत हो, यही काम तुम्हारे करनेके लिये पडा है।

आत्माके उद्धारकी दृढ भावना करते हो, एतदर्थ कमर कसकर यत्न करना चाहते हो, तो किसीको बुरा न कहो अपने आप पर दृष्टि देकर सदा प्रसन्न रहो।

कीर्ति, प्रशसा, स्वादिष्ट भोजन, आराम, वैभव, सुरूपावलोकन, रागश्रवण आदि पाकर तो सब प्रसन्न रहा करते है, अपकीर्ति, निन्दा साधारण भोजन, सकट, दरिद्रता आदि पाकर प्रसन्न रहना बन सके तो जाना जाय कि अब आत्मबल प्रकट हुआ है। करो कोशिश प्रतिकूलतामे प्रसन्न रहनेकी।

ससारके सभी पदार्थ अपने अपने परिणमनसे परिणमते जाते है उसी मे यह भी आगया कि प्रत्येक जीव भी अपने अपने योग्य उपादानसे परिणमते रहते है। किसी का परिणमन तुम्हारी अनुकूलता या प्रतिकूलताके लिये थोडे ही होता है। तुम्ही किसी को अनुकूलता मान लेते और किसी को प्रतिकूल मान लेते हो और ऐसी मान्यता करके सुखी दुखी होते हो।

२० मार्च १६५८

अपना दुख आप ही मेट सकता है, अन्य किसी की शक्ति नही। जो कोई अपराध करता है उसका बध उसको ही होता है। कोई दूसरा मित्र चाहे कितना ही चाहे तो वह उसका बन्ध अपने शिर नही ले सकता है, वह अपने

काई दूसरा क्षोभ करता हुआ वर्त रहा है, उसको देखकर तुम भी यदि क्षोभ करो, उससे विगडने लगो तो तुममे और उसमे क्या अन्तर रहेगा। और यदि अन्तर नही रहा तो अपनी इस अधमतापर विचार करो और वडप्पन की डीग खतम-करो।

प्रिय! अपनी ही परवाह न करोगे तो किस लिये जगत मे आये। वतावो तो सही। अपने सयोग सम्वन्ध मे वन रहे शरीरकी परवाह तो पर की परवाह है। अपने आत्माको विषय कषाय से रोक लेने की परवाह अपनी परवाह है।

आत्मा स्वय आनन्दमय है, स्वय धर्म है किन्तु इस अवाधित स्वरूपको मोहदृष्टिने वाधित किया है। कर्म तो पर है, वह तो मात्र निमित्त है, साक्षात् वाधा मोहदृष्टिसे ही पहुँची है। मोहदृष्टिके हटते ही अवाधित आनन्दका अभ्युदय हो जाता है।

आत्माका स्वभाव आनन्दमे वाधा देनेका नही है अतः आनन्द अवाधित तत्त्व है। ॐ सच्चिदानन्दोऽहं, शुद्धोऽहं, वुद्धोऽहं, नित्योऽहं, निरञ्जनोहं ॐ शुद्ध चिदस्मि।

२१ मार्च १९५८

आज विक्रम सम्वत्का प्रथम दिन है। यह पुराना सम्वत् होकर भी सर्वत्र मनाया जाता है इसका कारण राजा विक्रमकी राजा विक्रमके समयकी वहुदेश व्यापकता थी।

सत्यविक्रम तो विषयोसे मुख मोड लेना है। पूर्व कालमे भी अनेक विक्रमी हुए हैं आजकी योग्यताके अनुरूप आज भी विक्रमी है किन्तु उनमे सत्यविक्रमी कितने है इसपर विचार करनेसे असतोषकारक उत्तर मिलता है।

आत्माके शत्रु है दो— विषय और कषाय। इनमे विषय तो है ६ और कषाय है ४, इस प्रकार एक दहाई दुश्मन आत्माके है— इसपर विचार करो, क्या इनसे आत्माका हित हो सकता है—

स्पर्शनविषय— हाड, मास, मल, मूत्र, रुधिरके पिण्डसे प्रीति करनेमे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि शारीरिक, मानसिक, वाचनिक बल की हानि है ।

रसनाविषय— स्वादिष्ट भोजनके स्वादकी अभिलाषा व प्रीति करने मे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि आत्मविस्मरण, रोग, श्रम आदिक हानिया है ।

घ्राणविषय— सुगन्धित द्रव्यके सूंघनेकी वृत्ति व रुचिमे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि आत्मविस्मरण, रोग, श्रम आदि अनेक हानिया हैं ।

नेत्रविषयक— सुरूप-अवलोकनकी वृत्ति व रुचि मे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि आत्मविस्मरण, कलह, आपत्ति पराधीनता आदि अनेक हानिया हैं ।

कर्णविषय— राग रागिनी व प्रेम के वचन सुननेमे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि आत्मविस्मरण, पराधीनता आदि अनेक हानिया है ?

मनोविषय— कीर्ति, नामवरी आदिकी चाहमे क्या कोई हित है ? नही, बल्कि पर्यायबुद्धिकी दृढता, आत्मविस्मरण आदि अनेक हानिया है ।

क्रोध— यह शत्रु सब गुणोको जला देता और अति सक्लेश पैदा करता है ।

मद— घमड, घमडीको सबकी दृष्टि मे तुच्छ बना देता और इस हानिका उसे पता नही लगने देता ।

माया— मायावीको गहन विकल्पजालमे फसा देती है ।

लोभ— लोभीको हीन दीन बना देता है ।

२२ मार्च १९५८

धार्मिक व्यवहार यदि आत्मस्वभावकी उपासनाके अर्थ है तो वह धार्मिक है, अन्यथा एक यह भी व्यापार है ।

देवपूजा— करते हुए यदि बीच बीच यह भाव जगे कि मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान । भले ही पीछे यह देखे—अन्तर यही ऊपरी

जान, वे विराग यह रागवितान। इस प्रकार अन्त स्वभावका स्पर्श होजाय तो वह देवपूजा धार्मिक कृत्य है।

गुरूपासनि करते हुए याने गुरुसेवा, गुरुसत्सग करते हुए यदि यह भाव आता रहे कि शान्तिका मार्ग है तो यही है, मै कब ऐसी निराकुलताकी अवस्था पाऊ, तब तो समभिये यह गुरूपास्ति धार्मिक कृत्य है।

स्वाध्याय करते हुए यदि शरीरस भिन्न मैं एक सच्चिदानन्दमय सत् हूँ यह ज्योति जागती रहे तब तो समझिये मेरा यह स्वाध्याय धार्मिक कृत्य है।

इन्द्रियसयम व प्राणिसयमके विरुद्ध आचरणमे आत्मस्वभावकी उपासना कठिन है, अत आत्मस्वभावकी उपासनाके अर्थ सयम धारण करे तो वह सयम धार्मिक कृत्य है।

आत्मस्वभावकी उपासनाके उद्देश्यसे बाधकभूत इच्छावोका निरोध करना तप हे और वह धार्मिक कृत्य है।

तृष्णाके अभावको हित मानकर तृष्णासे निवृत्त होनेके लिये तथा धर्मानुरागवश धर्मपोषणके लिये धन आदि का त्याग करना दान हे और वह धार्मिक कृत्य है।

२३ मार्च १९५८

आज प्रात ९ बजे वादीकुई ६ मीलपर आये, लोगोमे धर्मोत्साह अधिक है।

अपना सदाचार और यथार्थ सहज आत्मस्वरूपका उपयोग व्यवस्थित है तो सब कुछ वैभव है, अन्यथा अर्थात् ज्ञान व सदाचारके अभावमे तो सर्व देश की विभूति भी मिले तो वह भी अकिञ्चित्कर है।

विशुद्ध परिणाम वह हे जिसमे कामविकार, अन्यके प्रति रोष, अपनी किसी स्थितिपर घमड, छल कपट व तृष्णा न हो। विशुद्ध परिणाम ही अनाकुलताका कारण बन सकता है।

अपनी करतूतका अहकार करना अव्वल न मानो तो दुव्वल न० की मूर्खता है। तव अव्वल न० की मूर्खता विपयोकी आसक्ति है। इन दोनो मूर्खतावोका आधार मिथ्यात्व है। वस्तुकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति विना मूर्खताका साम्राज्य होता ही है।

मूर्खता स्वय हिसा हे। मूर्खतासे निज गुणोका घात होता ह आत्माके प्राण आत्माके गुण ह। यदि आत्महत्यासे बचना चाहते हो तो माह, अहङ्कार व आसक्तिकी मूर्खता छोडो।

मोह रागका नाम नही हे। जहा मोह होता वहा राग लगा ही रहता है अथवा- रागका पोपण मोह करता हैं इस सम्बन्धके कारण लोकम पांसद्धि मोहकी घनिष्ट प्रम करनेमे होगई। मोह तो अविवेक अथवा अज्ञानको कहते ह। वस्तुकी स्वतन्त्रताका वोध न हो और अनक वस्तुओमे परस्पर स्वस्वामित्व व कर्तृ कर्मत्वका निर्णय हो ऐसे अविवेकको मोह कहते हैं। राग और द्वेप मोहके अनुज ह। मोहके नप्ट होनेपर राग द्वेपकी भी समाप्ति हो जाती है।

२४ मार्च १६५८

आनन्दका उपाय क्या हे ? अव मुझे कुछ करनेको नही हे ऐसा भाव होना आनन्दका उपाय हे। आनन्द तो इस भावम हे ही किन्तु सुख भी जो होता ह वह भी इसी भावके साथ होता है। हा, सुख भोगनेवालेकी दृप्टि पर पदार्थ पर हे सो अकर्तृत्वके भावके समय जो पर पदार्थ उसके उपयोगमे हे उसम सुखहेतुत्वकी कल्पना कर लेता है अज्ञानी जीव, तथा साथ ही अन्यपदार्थके कर्तृत्वकी वासना कर लेता है।

किसीने मकान वनवाया, वन चुकनेपर सुख मालूम करता हे वह। यहा सोचो, वह सुख क्या मकानसे उत्पन्न हुआ ? नही, मकान वनानेका काम अव करने को नही है इस भावका सुख हुआ। विवेकी जन तो मकान वनवाये विना भी मेरा पर पदार्थमे कर्तृत्व कभी हो नही सकता इस सत्य श्रद्धाके

कारण ऐसी प्रतीति रखते ही है कि मुझे मकान क्या कुछ भी काम करनेको नही पडा, जो वे तो सदा आनन्दित रहते है इस सम्यग्ज्ञानके बलपर।

आनन्दका उपाय अकर्तृत्वभाव है। कोई आनन्दका उपाय याने अकर्तृत्व-भाव तो करे नही और आनन्दका बाधक कार्य याने कर्तृत्वका भाव करे तथा इसी भावके फल स्वरूप पर पदार्थो के सग्रहका श्रम करे तो आनन्द किस प्रकार प्राप्त हो ? हो ही नही सकता इस रग ढगमे।

जिन्हे आनन्द चाहिये हो वे अकर्तृत्व भाव उत्पन्न करे। जो अकर्तृत्वभाव उत्पन्न करना चाहते हो वे पदार्थके यथार्थस्वरूपकी जानकारी करे।

२५ मार्च १९५८

कषायभाव कभी भी हितकारी नही होता। कषायसे परलोकके आनन्द तो नष्ट होगे ही किन्तु इस लोकके भी आनन्द व आनन्दकी सामग्रिया नष्ट होजाती है। किसी भी परिस्थितिमे कषायभाव करना उपयुक्त नही है।

विकल्प आकुलताको लेकर ही उत्पन्न होते है चाहे कम आकुलता हो चाहे अधिक आकुलता हो। निर्विकल्प दशा ही आनन्दकी दशा है। आनन्द स्वय है, आनन्दका बाधक तो विकल्प है, वह नही होना चाहिये।

वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेका फल तो किसी भी पर पदार्थमे तृष्णाका न होना है और साथ ही अपने आपकी परिणतिमे अङ्गीकारकी बुद्धि न होना है।

सन्मान अपमानका ख्याल विषरूप बुद्धि है। उन्नति-मार्गका बाधक अति अशुभ विचार है यह।

परको समझानेमे यह बात अतिसरल है, किन्तु खुदपर अपमानभरी घटना बीतनेपर यदि धैर्य रहता है तो समझो कि वह समझ है।

सन्मानके वातावरणमे अपने आपको छोटा बताना, विनयरूप प्रवर्तना

लेना वास्तविक हृदयदर्शन नही है। ऐसे वातावरणमे ऐमी वृत्ति होना प्राकृतिक घटना है।

सत्य वद, ध र्मंचर, क्लेशतर, मुक्तिवर, पाप हर, शुद्ध भज, ईश जप

२६ मार्च १९५८

जिस प्राणीमे कषायकी योग्यता है वह तो कषायरूप परिणमेगा, कभी रागरूप परिणमेगा और कभी द्वेषरूप परिणमेगा। रागरूप परिणमे या द्वेपरूप दोनो परिणामनोमे पर पदार्थ विषय होता है। कषायकी प्रचुरता वाला मोही जीव यही समझता रहता है कि हमसे जो देखो वही रूठता रहता है, जो देखो वही बुरा बोलता रहता है, किन्तु यह नही समझता कि मैं स्वय कषायाविष्ट हूँ, अत मैं ऐसा कषाय भी करता रहता हूँ और यह कल्पना भी किया करता हू कि यह मुझसे रूठा है आदि।

आनन्दका उपाय परमे कुछ करना या परका अमुकरूप बन जाना आदि नही है। आत्माको आनन्दके लिये कुछ करना ही नही है सिर्फ भ्रमका त्याग कर देना है।

भ्रमका त्याग तो ज्ञान होने से ही जाता है। यथार्थ ज्ञान हो और भ्रम रहे यह कभी हो ही नही सकता। यथार्थ ज्ञानके प्रयत्नमे रहो और यथार्थ ज्ञानके उपयोगो मे निरन्तर रहो यही एक उपाय करने भरको है। बाकी तो अनेक अनेक यत्न करके अनन्त ससार बितादिया। कुछ मिला इसकी तो कथा छोडो, हानि ही हानि सारी रही। अब तो सर्व प्रोग्राम छोडकर आत्मस्वभावके ज्ञान, उपयोग और अनुभवका ही कार्यक्रम रखो।

२७ मार्च १९५८

मन, वचन, कायका सयम रखना आत्माका हित है। मन, वचन, कायके योगसे, हलन चलनसे आत्मामे कलुपतावोका अड्डा, जमता है इसमे लेश भलाई नही है।

कितने भी चूको, चूक चूक कर, रह रह कर भी लगो पुरुषार्थमे मन वचन कायके वशमे करनेके।

अपना सत्पथगमन ही अपना रक्षक है। कषाय होते समय, विकार होते समय वह प्रिय लगता है यही जगत् का रोना है फल इसका बुरा होना है।

यदि विवेकसे काम न लिया तो मनुष्य वनकर मनुष्यभवका नम्वर ही क्यो वढाया। यदि विषय की आसक्ति अथवा कषायकी प्रवृत्ति करके ही जीना उद्देश्य तो था बैल, घोडे, कुत्ते, गधे रहकर भी क्या कमी थी? देख, श्रेष्ठ मन पाया इसका दुरुपयोग मतकर। विषय कषायोकी प्रवृत्तिमे उपयोग देना मनका दुरुपयोग है।

जिस जीवके जो अन्तिम इन्द्रिय है उस जीवके उस इन्द्रियका विषय तेज होता है। मनुष्यके आखिरी चीज है मन सो उसके मनका विषय प्रवल है जिसमे अन्य इन्द्रियोके विषप्रवृत्तियमे भी मनका ही साम्राज्य दीखता और दीखता है कि मनसे ही सारे भोग भोगे जाते है। मनको वशकर जो मन चाहता है उसमे ही न वह जा। आत्मस्वरूपके दर्शनकी ही चाहकर, इसमे ही लीनता कर।

२८ मार्च १९५८

ॐ नम सिद्धेभ्य, ॐ शुद्ध चिदस्मि। ॐ नम सिद्धेभ्यः, ॐ शुद्ध चिदस्मि। ॐ नम सिद्धेभ्य, ॐ शुद्ध चिदस्मि।

सिद्ध प्रभुका ध्यान अथवा अपना ध्यान दो ही तो काम है, शेष सब विडम्वनायें है। काम ही क्या है सिवाय अपने जाप अथवा अत्यन्त शुद्ध आत्माके जापके।

कुछ भी काम नही है करनेको मुझे। मुझे करना क्या है, कर ही क्या सकता हू, करना भी क्यो है? कुछ नही करना है। मैं अखंड हूँ, सर्व अपना काम स्वय होता है, मै परिपूर्ण हू, अधूरा न था, न हूँ, न रहूँगा। फिर मुझसे किये जानेको काम ही क्या है?

करना गाली है। लोकमे भी गाली के रूपमे कही कही "करना" बोला जाता है। करनेसे निवृत्त होओ निष्क्रिय होना तो ठीक है करना अच्छा नही। होने विना तो चलेगा नही, करने विना चल जायगा।

व्याकरणशास्त्रमे अनेक धातुये हैं उनमेसे भू व अस् धातु की क्रियाके उपयोग विना तो लोक व्यवहार चल नही सकता अन्य सब धातुवोके प्रयोग विना चल जायगा। बडेसे बडा व्याख्यान, बडे से बडा शास्त्र मात्र भू व अस् धातुके प्रयोगके बलपर बन सकल है। भू धातुका काम तो होने दो अन्य कुछ न करो। उदाहरणके लिये २–४ वाक्य देखो—

मैं पढने जाता हू	के एवजमे	पढ़ने के लिये काम न होता है।
देशकी सेवा करता हू	" "	मेरे निमित्तसे देशकी सेवा होती है।
भगवानको भक्ति करो	" "	तुम्हारे द्वारा भगवानकी भक्ति हो।
सत्कार्यमे लगो	" "	तुम्हारो लगन सत्कार्यमे हो।

२६ मार्च १९५८

जो समय गुजर जाता है वह गुजर ही जाता है। पश्चात् लाखो यत्न भी करो तो भी एक क्षण वापिस नही आता। द्रव्यमे जो पर्याय हुई, गुजरी, गुजर ही गई। पश्चात् लाखो भी यत्न करो तो भी एक पर्याय भी वापिस नही आती। आत्माकी जो पर्याय हुई, गुजरी, गुजर हो गई। पश्चात् लाखो भी यत्न करो तो भी एक पर्याय भी वापिस नही आती।

गुजरेका शोक करना व्यर्थ है गुजरी बातकी वे सम्हालपनेका प्रायश्चित्त तो यह ही वास्तवमे है कि अब वर्तमान पर्यायको सभालकर। वर्तमान पर्याय की सभाल यह ही है कि अपने उपयोगको उपयोगके स्रोत स्वरूप चैतन्यभावकी ओर लगाओ।

आत्मन्! तुम शाश्वत हो किसी क्षयकी हालतका व्यामोह छोडकर उसका ज्ञाता द्रष्टा रहकर बटा चल। कोई भी हालत दूसरे समय भी नही रहती, हुई और गुजरी उसके व्यामोह मे सिवाय क्लेशके और क्या रखा है? जैसे

कि कुटुम्ब मे जो लोग गुजर गये है, गुजरे सो गुजरे ही, उनके व्यामोहमे सिवाय क्लेशके और क्या रखा अथवा जो अब है वे भी उसी भांति ही है याने शीघ्र गुजरजाने वाले है, उनके व्यामोहमे सिवाय क्लेशके और क्या रखा है ?

हे सिद्ध भगवत सम कारणभगवत ! अनुपम तत्त्व होकर अब उपमेय या उपमान मत बनो पर्यायमे किसी विषय पर्यायके।

३० मार्च १९५८

आनन्दका उपाय सम्यग्ज्ञान है। निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान। तुम्हारा जब एकक्षेत्रावगाहमे रहनेवाले शरीर व कर्ममे भी अत्यन्ताभाव है तब भिन्नक्षेत्रावगाही चेतन अचेतन पदार्थों मे चाक्षुषी दृष्टि से स्वागत करके परेशान क्यो हो रहे हो उन सबमे भी तो तुम्हारा अत्यन्ताभाव है।

तुम्हे अन्य पदार्थकी दृष्टिमे कुछ न मिलेगा। मिलेगा क्या ? विवेक रहा तो पछतावा मिलेगा। विवेक न रहा तो अज्ञानान्धकारका तिरोभावपना रहेगा।

प्यारे, समझाते हुए तो समय बहुत गुजरा अब समझने समझानेकी ही बात चलेगी, कामकी कोई बात न चलेगी तो हाथ मात्र पछतावा आयगा।

सत निरतर चेतत ऐसे "आतम रूप अबाधित ज्ञानी"। किसी भी परिणतिमे विराम मत ले। कोई भी परिणति तुम्हारी सगिनी न बनेगी। बाह्यपदार्थो के बाबत तो कहना ही क्या है ? उनकी ममता करना तो व्यामोह है ही। मोह ही बुरा है फिर आमोह और फिर व्यामोह, यह तो अवनतिकी हद्द है।

प्रिय चैतन्य ! तुम मेरे ज्ञान नेत्रोसे ओझल मत रहो और चाहे जो कुछ बरसे सो बरसो।

ध्रुव स्वरूप ! तू ही मेरा सत्य है, शरण है, सर्वस्व है, ॐ शुद्ध
।

३१ मार्च १९५८

	कार्य	बीतने का समय
ग्राम— प्रात ४ – ४।।	कीर्तन, शास्त्र सुनना	
प्रात ७।। – ८।	प्रवचन करना	।।। घंटा
दुपहर १।। – २	पाठ करना	।। "
दुपहर २।। – ३।।	शास्त्रश्रवण	
साय ७।। – ८।	भजनादि श्रवण	
रात्रि ८। – ९	चर्चासमाधान करना	।।। घंटा

सब अनर्थोंकी जड़ शरीरको आत्मा मानना है। रे भाई जो शरीर कुछ बाद ही जला दिया जायगा, वरबाद हो जायगा जिस शरीरको छोडकर जाना है ऐसी अत्यन्त भिन्न देहमे ममता करते हुए तुझे लाज व झिजक आती। माना कि देह व आत्मा इस समय एक क्षेत्रावगाह है, होओ, यह तो नही कह रहे कि तुम शरीरसे न्यारे एक तरफ बैठ जावो। बात इतनी है कि अपनेको आप अपनेरूप ही अनुभव करो, शरीरको आत्मा मत मानो।

शरीरको नौकर बनाकर शरीरसे अपना काम निकालो। काम आपके से ही निकलेगा शरीरसे नही निकलेगा। लेकिन यहा तो सिर्फ इतनी पर ध्यान दिलाया जा रहा है कि एक आसनसे बैठो, मौन रखो, एकान्तमे अधिक समय बितावो, समयके अतिरिक्त भूख प्यास लगती है लगने दो, अपना आवश्यक काम करने मे परको अपेक्षा न रखो अर्थात् सजय करलो अपना काम।

देखो नौकर यदि ठीक काम नही करता तो उसकी तनख्वाह काट ली जाती या दड दिया जाता। शरीर भी यदि ठीक काम नही करता तो एक

आधे दिनकी तनख्वाह काट लिया करो कामक्लेश का दण्ड दे दिया करो।

१ अप्रैल १९५८

सम्यक्तके होने पर वह शक्ति आजाती है कि कदाचित् क्वाचित् पाप भी हो जाय तो बीतेका शोक ना करके वर्तमान उपयोगको आत्मस्वभावमे जोड कर कर्म क्षय कर देता है। यदि यह महिमा न होती तो अन्जन जैसे चोर न तिर पाते।

यह बात इस विचारम आता है कि द्रव्य सदा एक पर्यायरूप मिलेगा जब भी देखो जिस जिस पर्यायरूप हो। तब जो भव गुजारा सो गुजरा। विजय तो वर्तमान भवसे है। वर्तमान भव यदि आत्मस्वभावकी दृष्टिका है तो गत पर्याय का अभाव तो वैसे भी है किन्तु गत पर्यायसे निमितसे जो कर्मबन्ध हुआ था वह निर्जीव होने लगता।

आनन्द आत्मस्वभावके रमणमे है, आनन्द तो वह ही है। अध्रुव पदार्थो को विषय करके बनाया गया विभाव अपना रक्षक नही, बल्कि भक्षक है। कोई पर पदार्थ मेरे ज्ञानमे मत आवो जब तक स्वभाव परिणतकी ओरसे खुलासीका हुक्म न आवे।

मैं स्वय सुखी हूँ, किसी अन्यकी कृपा से नही। अन्य कोई मुझमे क्या कर सकता है। अन्यका तो मुझमे अत्यन्तभाव है। अन्यकी अपेक्षा मैं रखू तो सुखका विनाश है। हे जितेन्द्र परमात्म! तुम्हारा निरपेक्ष स्वरूप बडा सुहावना लगता है।

निरपेक्षता परम धर्म है, निरपेक्षता परम तप है, निरपेक्षता परम अहिंसा है, निरपेक्षता परम दया है, निरपेक्षता परम सत्य है, निरपेक्षता परम विकास है, निरपेक्षता परम विजय है।

जो उपयोग निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव को विषय करे वह तो ज्ञान है बाकी सब अज्ञान है हम लोगो का जो कि राग के कारण ही विविध पदार्थो को विषय बनाते रहते हैं।

२ अप्रैल १९५८

यह ससार है यहा अटक नाटक सब होता है। तुम्हारी तो अब यह बात है कि चर्म की आख खोली कि विपदाम फसे। रच भी ऐसाविचार न करो कि थोडी देर तो अमुक पदार्थ देख ले। हा देखो वह जिससे आत्मस्वरुप स्थिति को प्रेरणा मिले।

स्थानका कही अपराव नही है जनसमुदाय हो उससे कोई वाधा नही है, अपराध तो तुम्हारा राग है। राग है तो सर्वत्र दुख ही भेट होगा। स्वाध्याय जनसमुदायमे न होसके तो सुख त। तुम्हारा कही नही गया वह तो तुम्हारा तुम्हारे ही पास हे। नमोकार मन्त्र द्वारा पञ्च परमेष्ठीका जाप करो, ॐ नम सिद्धेभ्यः ॐ शुद्ध चिदस्मि आदि आदि शुद्धात्मस्मारक मन्त्रोका जाप करो। मन तो तुम्हारा कहीनही गया वह तो तुम्हारा तुम्हारे पास है, शुद्धात्माका स्मरण करो। व्यवहार का तुम पर कोई भार नही हे। वाह्य पदार्थके परिण मनका काम वाह्यमे होता रहेगा। वाह्यपदार्थका कुछ भी काम तुम्हे करने को नही पडा। तुम अपना ही काम करते आये, कैसा करते आये वह भूल थी, अव वेभूला काम कर लो।

प्रिय आत्मन्! जपो अपने आपको, रमो अपने आपमे अपने पर दया करो। ऐसा मन ऐमा तन मिलना दुर्लभ है। पदार्थोका परिणमन होता है अपने आप और वह विभवरूप परिणमन होता हे तो निमित्त नैमित्तिक भावपूर्वक सो वुरा भाव कर्म करोगे, कर्म वघेगा, उसके उदयकालमे फिर पिटोगे। शुद्ध निर्वि-कल्प चैतन्यभावपर उपयोग दो।

३ अप्रैल १९५८

द्रव्यमे पर्याय एकवार मे ही एक ही है। आत्माने पूर्वकाल मे जितने कुभाव किये वे इस समय नही हैं। इस समय तो कुभाव करे तो इस समयका कुभाव है स्वच्छ भाव करे तो इस समयका स्वच्छ भाव है। आकुलता तो कुभावकी है सो पूर्वकृत कुभाव तो अब है नही सो उनकी आकुलता तो है नही और

यदि वर्तमानमे शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बन जाय तो भैया सब खराबिया दूर हो चुकी।

भावकर्म तो पुराने अब है ही नही और यदि उपयोग चैतन्यस्वभावका आश्रय करले तो पूर्वकृत भावकर्म के निमित्त से बधे हुए कर्मों की निर्जरा होने लगती, हो जाती।

वर्तमानभावकी निर्मलतामे तुरन्त विजय है। राग व द्वेष ही तो अशान्ति है। जहाँ राग नही, द्वेप नही, वह भाव तो विजय ही है।

ज्ञानस्वभावकी दृष्टि होना ही एक सफल व्यवसाय है। जिसके जीवनमे यह व्यवसाय नही हुआ तो चाहे अन्य अनेको व्यवसाय होजाय किन्तु उनसे स्वहित की सिद्धि नही हे।

विरल अन्तरात्मावोको छोडकर आजके अनेक महापुरुषोने इसमे ही जीवनकी सफलता मानी कि समाजकी व देशकी व राज्यकी व्यवस्था ठीक बनाली जावे। यह तो लौकिक बात हुई और जितना परउपकार का सही मायनेमे भाव हो उतना पुण्यका काम हुआ किन्तु इतने मात्रसे आत्मसेवा नही हुई और न होती है।

तपमे चित्त लगावो। तप विपयकपायको छोडकर आत्मस्वभाव चैतन्यमे तपनेको कहते हे। ऐसा करनेमे जो सकट आये उन्हे समतासे झेलनेको भी तप कहते हैं।

४ अप्रैल १९५८

शान्तिका कारण समता है, समताका कारण निर्ममता है, निर्ममताका कारण निरहता है, निरहताका कारण सम्यक् अवबोध है। अत: सुबोधके पालन पोषणके लिये सदा दक्षचित्त रहना शान्तिके अर्थ सत्य व्यवसाय है।

शरीरसे भिन्न निजस्वरूपका भाव हो जाना ज्ञान है। शरीर पदार्थ नही है किन्तु शरीरमे रहनेवाले अनन्त परमाणु प्रत्येक एक एक पदार्थ हैं, मैं आत्मा एक पदार्थ हूं। प्रत्येक परमाणु केवल वह अपने धर्म मे व्यापक हे, मैं आत्म केवल मे अपने धर्म मे व्यापक हू। शरीर मै नही, शरीर मेरा नही। फिर

जगतके ये मुफ्तके समागम मेरे क्या हो सकते हैं। मैं किसी भी पर पदार्थका कमानेवाला नही हू। ये सर्व तो पुण्य पापके उदयके निमित्त नैमित्ति सम्बन्ध के अनुकूल स्वय आते बिछुड़ते रहते हैं। इन बाह्य पदार्थों के समागममे हर्ष मानना और वियोगमें दुःख मानना उन बालको जैसी अज्ञानता है जो बरसातमे छप्परसे गिरती हुई उरवतिया के कारण बने हुए बबूलोको अपना अपना बबूला कल्पित करके बबूलाके रहते हुए सुख और बबूलाके मिटते हुए दुःख मानता है अथवा उस पागल जैसा पागलपन है जो नदीके किनारे बैठकर जाते हुए नदीके किसी प्रवाहको अपना मानता है और प्रवाह निकलनेपर हाय मेरा प्रवाह निकल गया ऐसी कल्पना करके दुःखी होता है।

मैं सच्चिदानन्दघन सत् हूँ। निजगुणो मे परिणमते रहना मेरा कार्य है सो उस कार्यमात्र मैं नही हू। मैं त्रिकाल अबाधित एक स्वरूप चैतन्य सामान्यात्मक हूँ। ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ नमः सिद्धेभ्य, ॐ शुद्ध चिदस्मि

५ अप्रैल १९५८

शरीर तो रूपी है वह तो दिखता है परन्तु शरीरमें एक क्षेत्रावगाह से रहनेवाला आत्मा रूपरहित है वह कैसे दिख सकता, आत्मतो ज्ञानमय चेतन पदार्थ है वह जानता है। जो रूपी है वह नियमसे अचेतन है, रूपी पदार्थ जानता नही है। जो दिखता है वह जानता नही, जो जानता है वह दिखता नही। दिखने वाले से, बोलने वाले से क्या लाभ ? जानने वाले तत्त्वका लक्ष्य कर बोलता कौन है ?

यह सारा वचनव्यवहार कोरा टकोसला है इनमे सिद्धि कुछ नही। हा किसी भी वचनको निमित्त पाकर कोई अपना भला करले तो यह उसका पुरुषार्थ है।

सत्य शिव सुन्दरम्। मैं तुम्हे समझाता हू यह अब मत्तभाव है, मैं तुमसे समझता हू यह भाव भी मत्तभाव है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ कर देता है ऐसी अनेक द्रव्योमे एकत्वबुद्धि करना मत्तभाव है। मेरा सुख किसी विषयसे मिलेगा ऐसा भाव मत्त भाव है, मुझे दुःख अमुक पदार्थ से हुआ ऐसा भाव भी मत्त भाव है, मत्त भावसे आत्मसिद्धि नही। मैं अन्य सर्व की क्रियासे

न परिणमनेवाला, सर्वसे अत्यन्त पृथक् निजसत्तामात्र त्रिकाल अबाधित चैतन्य-स्वरूप हूँ, यह मैं वस्तु होने के नाते स्वतः परिणमनशील हू । अपनी सस्कृतिके अनुसार अपनी सृष्टि करता हूँ, अपनी सृष्टि के अनुकूल अपनी सस्कृति बनाता हूँ। अशुद्ध सृष्टिके लिये सस्कृति चाहिये, शुद्ध सृष्टिके लिये सस्कृति नही चाहिये। याने, अशुद्ध सृष्टि सस्कृतिमूलक होती है, शुद्ध सृष्टि निरपेक्ष स्वतन्त्र होती है।

किसी भी गत पर्यायकी कोई अपेक्षा न हो तो शुद्धसृष्टि सहज हो सकती है। एतदर्थ जो यत्न किया जाता है उसे शुद्ध सस्कृति कहते हैं।

६ अप्रैल १९५८

आज परिणाम निम्न रहा। निम्नताका विषय पर पदार्थ होता है निज नही। इसी कारण निम्नताका विनाश जिस भावमे होता है वह है निज-विषयक। सहज शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रयसे ही निर्विकल्प स्थिति रूप कल्याण है।

शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान ही सर्वोपरि कल्याणका उपाय है सिद्ध परमात्म का ध्यान भी शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानकी योग्यताका कारण होनेसे कल्याणका उपाय है। शुद्ध आत्मतत्त्व व सिद्ध परमात्मा दोनोका ध्यान तो बुद्धिपूर्ण कार्य है शेष सब व्यायाम हैं।

बडे बडे महापुरुषोके जीवन चमत्कार देखो वे सब विशिष्ट पुण्यके फल है। विषय कषायोकी उपेक्षा करनेपर जो हार्दिक त्याग भाव होता है उसके होते सते ही विशिष्ट पुण्यका बन्ध होता है।

वर्तमानमे भी देखो तुम्हारे परिचित मे से कितनेके पुरुष कैसे अन्तरङ्गसे धर्माचरण करते है कमाने की सामर्थ्य एव साधारण प्रतिभावोमे न अग्रग रहते हुये भी आरम्भको छोडकर ज्ञानोपार्जन मे लगे हुए है। क्या तुम ज्ञाना-पार्जनका सदा ख्याल रखकर अपना जीवन सफल नही कर सकते हो।

प्रिय आत्मन् ! अहित त्यागकर हितको ग्रहण करो। सत्य सुख इसीमे

प्राप्त होगा कि परका चिन्तन ही मनमे न आने दो और आवे तो वस्तु स्वरूप का वीतराग भाव।

७ अप्रैल १९५८

आत्माका हित धर्ममे है। विषय कषायके परिणाम आते हैं यह आत्मापर बडा विपत्ति है। अनादिकालमे कुयोनियोमे भ्रमण कर यह जीव सुयोगवश नरभवमे आया। यदि यहाँ भी चित्त स्थिर न कर सका तो इस जीवका फिर पूछने वाला भी कोई नही है। जितना अधिक यत्न बन सके ज्ञानवृद्धिकेलिये, उपयोगकी निर्मलताकेलिये स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

धनसे अधिक ज्ञान है। लोक तो भूलभूलैयाका स्थान है। निराकुलता ज्ञानभावमे मिलती है। वस्तुकी स्वतन्त्रताके परिज्ञानसे उत्पन्न हुई अकर्तव्य बुद्धिमे आकुलता नही है।

जितने क्षण सिद्ध परमात्माके स्वरूप व शुद्ध आत्मतत्वके स्वरूप पर दृष्टि रहेगी उतने क्षणतो धन्य है, शेष क्षणोकी इनसे विपरीतता है। ये क्षण दुर्लभ है। इसी उद्देश्यके लिये किये गये देववन्दन, स्वाध्याय, सामायिक, प्रायश्चित, विनय, वैयावत्य, सत्सग, आदि उपयन्न है।

इन सबके अतिरिक्त, जो भी कार्य है उनमे सिवाय आकुलताके और कुछ हाथ नही आता।

केवल नित आत्मराम के उपयोगमे जो लीन हैं वे तीर्थ हैं। ऐसी व्यक्तिही शक्ति सब प्राणियो मे हैं जो सभाल सके वह प्रभु है। ॐ शुद्धचिदस्मि।

८ अप्रैल १९५८

आयुका उत्कृष्ट अनुभाग हो तो वहा यह नही हो सकता कि अनुभाग तो उतना ही बना रहे और आयुकर्मकी स्थिति कम हो जाये।

जिस जीवने आयुकर्मका उत्कृष्ट अनुभाग बाधा है वह छठे गुणस्थानसे नीचे नही आता है जब तक कि उसके बृद्धायुका उत्कृष्ट अनुभाग है। उत्कृष्ट अनुभाग वाली आयु अप्रमत्तविरत साधु बाधता है अन्य कोई नही।

वीतराग महर्षियो द्वारा प्रणीत आगम (शास्त्र) के अध्ययनसे परिणामो की निर्मलता स्थिर रह सकती है। परिणाम निर्मलता ही सर्वोपरि वैभव है। दृश्यमान भौतिक वैभव मिलता है ,तो वह भी परिणाम निर्मलताका परिणाम है।

कोटि यत्न करके भी परिणाम निर्मल करो। परिणाम की निर्मलताके लिये कोटि यत्न क्या कुछ भी नही करना है मात्र वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करते रहो इस उपायसे सहज ही परिणाम निर्मलता आ जाती है।

जगतमे कोई भी अन्य किसीका सहायक नहीं है। परिणाममे वेसुध मत होओ। सर्वघटनाओ का खुद जुम्मेदार है। मनको समभाओ अथवा मनको मत समझावो वह तो शत्रुताका बाना पहिन कर आया है उसे ऐसा समझो ताकि उसका बहकावा निष्फल होता चलाजावे। ऐसा होने पर यह मन हितैषीका बाना पहिन लेगा।

बड़ी विपदावोका मूल कारण विषयोकी वाञ्छा है। ये विषय सोचनेम भोगनेमे बड़े हितकारी मालूम होते हैं किन्तु हैं महा अहित, यही तो विचित्र गोरखधन्धा है।

आज वकीलके, ७ सज्जन आये वकीलका आमन्त्रणदिया इनपर दो दिन बाद विचार करेंगे।

९ अप्रैल १९५८

एक परमाणुमात्र सम्बन्धी भी राग हो तो वह उपयोग को स्वानुभव से दूर रखता है। जगत के सभी द्रव्य एक मेरेसे जुदे हैं, जुदे है, अत्यन्त जुदे हैं। उनसे मेरा कुछ नही होता। मैं ही जैसा होऊं उसके अनुकूल परिणम जाता हूँ अन्य द्रव्य का निमित्त पाकर।

अन्तर मे किसी बाह्य पदार्थकी चाहना रखो मायाचार होगा यदि बाहरकी चाहना हो तो और बाह्य निर्वाञ्छकता बनाओ। जैसे निज शरीरमे एक क्षेत्रावगाह मे भी हूं, मैं जो कर पाता हूं वह अपना ही भाव करता हूँ। अन्य शरीर के

एक क्षेत्रावगाहमे अन्य अन्य आत्मा है, वे केवल अपने आपमेभाव करते है। अब सम्बन्ध क्या है ? तुम किसीको कुछ नही करते हो। अन्य कोई भी तुम्हारा कुछ नहीं करते है। बोल बहकावेमे मत आओ।

औदारिक शरीर और उसने भी त्रसका औदारिक शरीर और उसमे भी मनुष्य का औदारिक शरीर देखो, देखा इसमे सार क्या है ? यह शरीर महा असुचि है; मलमूत्र का भण्डार है, इससे पसीना बहता रहता है, जिसपर भी यह क्षणिक है, विना शौक है। प्रिय आत्मन् ! इसको रुचि से मत देख। इसके ज्ञाता दृष्टा रहा।

तेरा सहाय अन्य कोई नही है। किसी भुलावेमे न रहना। यह दृश्यमान सब पुण्य पाप का ठाट है। पुण्य के उदय मे पागल न बनो, पाप के उदय मे दीन न बनो।

बहिरात्मा जन या तो दीन बनते हैं या पागल बनते हे। जगत मे आत्मा प्राय दीन हैं अथवा पागल हैं। दीनता न पागलपन दोनो दशाये दुख का कारण है, दु खस्वरूप हैं।

१० अप्रैल १६५८

आत्मा के पास रहो, अहित मे न जाओ। आत्मा के पास रहो, अहितमे न जाओ। आत्मा के पास रहो अहित मे न जावो।

परिग्रह दो प्रकार के लगे रहते है—(१) चेतन (२) अचेतन। गृहस्थो मे तो परिग्रह कुटुम्ब और धन लगा रहता है, त्यागियो मे परिग्रह सघ व सस्था लगी रहती है, साधुओ मे परिग्रह शिष्य व आडम्बर लगा रहता है। परिगह के सम्बन्ध से सब दुखी हो जाते है। गृहस्थ यदि कुटुम्ब व धन मे मूर्छा न रखे तो ज्ञानी गृहस्थ है, त्यागी सङ्घ व सस्था मे मूर्छा न रखे तो ज्ञानी त्यागी हे, साधु शिष्य व आडम्बर मे मूर्च्छा न रखे तो ज्ञानी साधु है।

परिग्रहो मे मूर्छाभाव न होने का उपाय परिग्रह मे अहित ही प्रतीति होना है। सब परिग्रह अहित ही है। इनमे मूर्च्छा करो तो अपनेमे नही मूर्च्छा करो तो अपने नही न मूर्च्छा करो ता पर से आता तो कुछ है नही, विकल्प का दुख भोगना पडता है और इसी कारण कर्मबन्ध हो जाते हैं जिनके उदय

काल मे भविष्य मे भी विकल्प का दुख करना होता है। मूर्छा न करो तो तत्काल भी शान्ति रहती है, कर्म का सवर रहता है जिससे भविष्यत्काल मे भी दुख से बचाव रहता है।

अनेकों चेतन अचेतनका परिग्रह बनाया, उनमे मोह किया और अपनेको जैसा गुजार दिया सो अब भी भोग रहे हो अबतो अपनी कुटेव से बाज आकर धर्ममे और धर्मात्माओ मे प्रीति करो।

मलमूत्रपिण्ड हाडमासरूप शरीर से प्रीति करनेमे लाभ क्या ? जिसमे लाभ नही उस व्यर्थ कार्य के परिश्रम से हानि ही हानि पाओगे।

११ अप्रैल १९५८

विकल्प ही महान् शत्रु है, विकल्प करना ही भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा पर क्रोध करना है। बहुत क्रोध किया निज भगवान आत्मा पर और इसके फल मे अनेको कुसृष्टिया पायी। अब तो ऐसे क्रोध को त्यागो और निर्विकल्पभावरूप क्षमा से निज आत्मा का क्षमा कर दो।

विकल्प ही महान् शत्रु है, विककल्प मे उपयोग देकर उस विकल्परूप अपनेको मानना, विकल्पक परिणमनसे बडप्पन न अनुभव करना और सहजज्ञायकस्वरूप निज आत्मा का तिरस्कार करना घमड है। बहुत घमड किया और निज प्रभुका तिरस्कार किया एव इसके फल मे अनेको दुर्दशायें पायी। अब तो ऐसे घमडको त्यागो और उपयोगको स्वभावमे निहित करके महिमावत बनो।

विकल्प ही महान शत्रु है, विकल्प करना सरल सहज ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा पर छल करना है। बहुत छल किया आत्मा के प्रति और इसके फल मे तिर्यञ्च आदि योनियोमे जन्म धारण कर करदुखी हुआ। अब तो ऐसे छल को कि हे तो निर्विकल्प स्वभावरूप निज और प्रकट करता रहा नाना विकल्परूपसे निज प्रभुको, ऐसे छलको छोड और स्वभाव के अनुरूप पर्याय प्रकट करके सरल एव सत्य सुखी बनो।

विकल्प ही महान् शत्रु है, विकल्प करना ही अपनी आत्माको अपवित्र करना है। अब तक आत्माको अशुचि बनाया, अब तो शुचिस्वभाव ज्ञायक स्वरूप आत्माकी दृष्टिरूप पवित्र जलसे भावस्नान करो शुचि बनो।

१२ अप्रैल १९५८

विकल्प ही महान् शत्रु है। विकल्प करना ही असत्य व्यवहार है ज्ञायक स्वरूप भगवान् आत्माके स्वभावमे जो नही है उसकी प्रसिद्धि करने रूप असत्य व्यवहार करके भगवान आत्मा पर अब तक सकट डालते रहे। अब तो असत्य की रुचि छोडकर सत्य की रुचि करके भगवान् सत् स्वभावके अनुरूप याने सत्य व्यवहार करो और विपदावोसे अपनेको वचावो ;

विकल्प ही महान् शत्रु है। विकल्प करना ही असयमका प्रवर्तना है बहुत असयम और अत्याचार किया चैतन्यमात्र भगवान आत्मा पर। अब तो विकल्पकी कुटेव छोडो और अनादि सयम चैतन्यस्वरूप आत्मतत्वमे उपयोगको सयम करके निर्बाध हो जावो।

विकल्प ही महान् शत्रु है। विषय कषाय के विकल्पो द्वारा चैतन्यतपके विरुद्ध चल कर अब तक तो अपने को चतुर्गतिके गर्तोमे निमग्न किया। अब तो शुद्ध ज्ञायक स्वभाव भगवान आत्मामे ही रत होकर सर्व इच्छा विकल्पोका निरोध करके स्वच्छ बनो व अपना उद्धार करो।

विकल्प ही महान् शत्रु है। विकल्प विभावोको अपना कर भगवान आत्मा को ससार बन्धनबद्ध किया। अब तो सब उपाधियोको त्याग कर अलिप्त परमात्मतत्वमे निवास कर केवल बनो और सहज मुक्त होऊ।

विकल्प ही महान शत्रु है। विकल्पोके भारमे अपनेको बडा समझकर अपनी तुच्छताका फल पाया। अब तो विकल्पोसे छुट आकिञ्चन्य भावका अनुभव कर महिमावत बनो।

विकल्प ही महान शत्रु है। विकल्प व्यभिचार द्वारा भगवान आत्माको अब तक भ्रष्ट बनाये रहा। अब तो अविकल्प ज्ञायक भाव रूप निज पदमे स्थिर होकर पूर्ण ब्रह्मचारी बनो और अनन्त ज्ञान एव सुखका शाश्वत अनुभव करो।

१३ अप्रैल १९५८

अब और कुछ चाह नही है अन्तरङ्गसे चाह यही है कि विकल्पजाल सब समाप्त हो। उसके फलमे निर्विकल्प परिणमन होता है उसकी भी चाह नही है। अन्य भी जो रद्दी चाह हो जाती है वे कर्मोदयके तीव्र परिणाम है, होते है किन्तु उन्हे चाहता नही हूँ। चाह लेने के बाद पछतावा होना है और उन चाहो को भुला देनेका यत्न होता है।

चाहकी दाहसे सर्वथामुक्त सशरीर परमात्मा और अशरीर परमात्माका नाम तो हृदयमे रहो, अन्य कुछ एक भी पास मत फटको।

दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम।

मैं कहा रहता हूँ ? आत्मप्रदेशोमे रहता हू।

मैं क्या करता हूँ ? मात्र भाव बनाता हूँ।

मै क्या भोगता हू ? मात्र आकुलता या अनाकुलता भोगता हूँ।

इस नर भवकी सफलता किसमे है ? विकल्पोसे दूर बने रहने मे।

हमे अब क्या करना है ? समस्त परका ध्यान व विकल्प छोड ज्ञाता द्रष्टा रहना है।

गई जिन्दगीमे जो गुजरा उसका क्या करे ? गुजरा सो व्ययको प्राप्त हुआ, उसे तो बिल्कुल भूल जावो।

अवशिष्ट जिन्दगीमे क्या करे ? स्वानुभव ही स्वानुभव करो, स्वानुभव न रहे तो स्वानुभवके लिये यत्न रखो।

निज आत्मा ही तुम्हारा रहेगा, उसका ही अनुभव करो, वही तेरे कामका है। ससारमे निमित्त क्या, पदार्थ भरे पडे हैं ? रागसस्कार वाला जीव जिस पदार्थपर लक्ष्य करता है उसे रागद्वेषका निमित्त बना डालता है। इस लिये वर्तमान पर्यायोमे यह कह सकते है कि जीव जब राग करे तो राग करतेसमय जिसको उपयोगमे लिया वह रागका निमित्त हुआ।

केवल एक अपनेको देख, केवल एक अपनेके देखनेमे ही सारे सकट टल जाते है। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

१७ अप्रैल १९५८

आज चतुर्दशी है। यह पर्व अनादिसे ही धर्म-क्षेत्रोमे उपवास व धर्मध्यानमे समय बितानेके लिये चला आ रहा है। क्यो चला रहा है उसका वास्तविक उत्तर तो यह है कि यह अहेमुक है, पश्चात् कितने भी उत्तर दिये जा सकते है।

ससारमे बस कर हमे करना क्या है ? निज स्वभावपर एक दृष्टि बनी रहो इसहीकी मात्र आवश्यकता है। पर पदार्थमेसे मिलेगा क्या क्योकि पदार्थ है इसी कारण वह अपने ही गुण पर्यायमे व्यापक है। जिससे मिलेगा कुछ वह मैं स्वय हू।

विषय कषायसे सुख मिलेगा ऐसी प्रतीति मिथ्यात्व है, ज्ञानीके ऐसी प्रतीति नही है चाहे कर्मेन्द्रिकेसे विषय कषायका पर्याय बन जावे फिर भी विषय कषायने हित है यह प्रतीति तो ज्ञानभाव रहते हुए हो नही सकती है। शायद यह कहा जाय कि ज्ञानी भी यदि विषय कषायके परिनमनमे वर्तता है तो उसे ज्ञानी नही कहेगे अथवा ज्ञान उसका नष्ट होकर अज्ञानभाव आगया ऐसा मानेगे। इस सम्बन्ध मे उत्तर एक निश्चित नही है, हो भी सकता ऐसा और नही भी हो सकता ऐसा।

तुझे काम और कोई बाकी नही रहा है करने को, परमे तो तू कर क्या सकता सो परका तो विकल्प छोड दे और निजमे करना ही क्या है वह तो भावमात्र तत्त्व है। अत समझ, यदि ज्ञानदृष्टि होगई तो तू सुखी ही हो गया।

१८ अप्रैल १९५८

उपयोगकी किसी वृत्तिमे तो हार है और किसी वृत्तिमे जीत है। अत

अपनी जीतके लिये उपयोगकी वह वृत्ति रखना चाहिये जिसमे हारका कोई काम ही नही।

शुद्ध आत्माके ध्यानमे रत उपयोग जीतके पग पर है और पर पदार्थ रुचे ऐसी उपयोगकी वृत्ति हारके मग पर है।

तेरा तू ही मात्र है अत परको रुचि रच भी न कर तो तेरा वेडा पार होगा। कुछ भी कर वहा करना इतना ही है जैसा कि उपयोग किया। मानने मे तो लोक की सम्पदा को अपनी मान ले किन्तु इससे उसका कुछ होगया क्या ? जिनके पास जो कुछ वैभव है वह भी उनका नही है।

सत्य ज्ञान जिनके हो जाता है उनकी अजब लीला हो जाती है लोक उन पर आश्चर्य करती है।

सत्यकी ही अन्तमे विजय है। सत्य वह है जिसमे अन्य आत्माका विगाड न हो और स्वयका नैतिक पतन न हो। सत्य वह है जहा एक सत्के स्वरूप पर ही दृष्टि हो।

क्या कभी उदारचित्त किसीके तिरस्कार का पात्र हो सकता और क्या कभी अनुदार पुरुष किसीके आदरके पात्र हो सकते है। कोई एक अपवाद हो तो वह अज्ञानियोकी गोष्ठीके सदस्य का पस्ताव है।

१९ अप्रैल १९५८

आज प्रात सूर्यग्रहण है। चाहे आर्षग्रन्थ के अनुसार केतु विमान द्वारा सूर्य विमानका ढकना माना जावे और चाहे आधुनिक कुछ खोजियोकी मान्यताके अनुसार पृथ्वीकी छायाका पडना माना जावे उभयत्र पूजा या भगवानके संकट की कोई बात ही नही है।

जिन लोगोने सूर्यको भगवान् माना और उसे केतु निगल गया ऐसा माना वहा एक प्रश्न होता है कि भगवान को भगवत्ता ही क्या है जहाँ अन्य तुच्छ प्राणी भी सकट विदारते रहे।

रूढिकी यथार्थता जानना बुद्धिमानी है। भगवान् वह कहलाता जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तशक्तिका प्रभु हो। वह सदा उत्कृष्ट और निर्बाध होता है।

सूर्यग्रहणके समय ऐसा वातावरण बन जाता है कि भोजनादि वस्तु पर विषैला असर हो सकता है अत: भोजन नही बनाना चाहिये। सूर्यग्रहणकी विचित्र घटनाके काल विचारोमे विलक्षणता हो जाती है अत आरम्भ उद्योग नही करना चाहिये। तब जबकि कुछकाम नही रहा, धर्मध्यान जो कि केवल के आश्रित है करनाचाहिये यह स्वत सिद्ध हो जाता है। इसी हेतु सूर्यग्रहणके काल जप, वन्दन आदि हुए। इसका अर्थ भगवानका सकट दूर करना नही लगाना चाहिये। अपना कर्तव्य समझना चाहिये।

२० अप्रैल १९५८

चरणानुयोग भी आत्मोत्थानका सहकारी है। यद्यपि कोई यह कह सकता है कि बाह्य पदार्थ का त्याग करनेपर भी अन्तरङ्गसे रागभावका त्याग हो भी सकता, नही भी हो सकता फिर बाह्य त्यागके लाभका नियम तो न रहा और जो कभी लाभ हो वह अन्तरके रागके त्यागका लाभ है।

यहाँ उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता — कि कदाचित् किन्ही साधारण वैराग्य परिणामके आश्रय बाह्य पदार्थका त्याग कर दिया, यदि बाह्य पदार्थका त्याग किये ही रहे याने उससे ओझल हो जावे तो साधारणी उपस्थिति बिना कषायकी तीव्रताका अवसर न होगा और कुछ समय बाद उठने वाली वासना भी शान्त हो जेगी तब अन्तरङ्गसे भी रागका त्याग हो लेगा। इस युक्तके आधार पर चरणानुयोगको प्रक्रिया साधारण वैराग्यके अवसर पर भी कार्यकारी है। किन्तु वह बाह्यत्याग भी बाह्य अतिचारोंसे रहित होना चाहिये।

त्याग भी वस्तुत ज्ञानका ही नाम है। आत्मा ज्ञानने के अतिरिक्त और

क्या कर सकता। जाननेकी ही एक वह पद्धति है जिसे कहते हैं असयम और जाननेकी एक वह पद्धति है जिसे कहते है सयम। जाननेकी वह एक पद्धति है जिसे कहते है दुःख और जाननेकी ही वह एक पद्धति, है जिसे कहते है सुख तथा जाननेकी ही एक वह भी पद्धति है जिसे कहते है आनन्द।

बोलो तुम्हे क्या चाहिए ? जो चाहिए हो वह जिस पदतिके ज्ञानमे मिलता वैसी ही पद्धतिसे ज्ञान करने लगजाइये।

२१ अप्रैल १९५८

मनुष्यका वैभव है चारित्र। जिसका चारित्र गया उसका सब गया। वाह्य समागमसे उच्चता नही मापी जाती, उच्चता आत्मनिर्मलतासे मापी जाती।

वाह्य पदार्थोंकी ओर जिनका चित्त है वे दरिद्र है अथवा भिखारी है। दरिद्र तो यो है कि उनके उपयोगमे अनुपम आत्मवैभवका दर्शन भी नही है व परसे कुछ आता नही है। भिखारी यो है कि पर पदार्थको वे चाहते है। सत्य विभूतिमान् एव ईश्वर तो वह है जिनका चित्त पर पदार्थकी ओर नही जाता।

"ॐ सत्य शिव सुन्दरम्"

आत्म शान्तिके अर्थ स्वरूपाचरणकी आवश्यकता है पररूपाचरण नियमसे क्लेशपूर्ण है। हा इतना अन्तर है कि कही मन्द क्लेश है, कही तीव्र क्लेश है। निज सहज स्वभावकी ओर झुकावको स्वरूपाचरण कहते है तथा पर पदार्थ जो इष्ट अनिष्ट विषयरूप कल्पित किये गये है, उनकी ओर झुकाव एव उन पर पदार्थोको विषय करनेवाले रागादिभावकी ओर झुकाव होनेमे जो वृत्ति होती है उसे पररूपाचरण कहते है।

पर पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं उनसे आत्मामे कुछ नही आता फिर क्यो उनकी ओर झुकाव हो, यदि हो तो इसी को अज्ञान व मोह कहते है।

ससारका कुछ भी वैभव पा लिया जाय उससे होगा क्या ! चार दिनाकी चादनी फेर अधेरी रात।

शत्रु तो विभाव है उसका तो कोई आदर करे और मित्र है स्वभावाश्रय उसका करे तिरस्कार तो आपत्ति न आवे तो क्या आवे न्यायकी बात बोलो।

२२ अप्रैल १९५८

आज श्री क्षुल्लक सहजानन्दघन जी आये। आप पहिले श्वेताम्बर मुनि थे। आपको ध्यान व अध्यात्मकी रुचि अधिक है।

आत्मोत्थानका मार्ग तो अति सरल है क्योंकि स्वाधीन है। किन्तु अविद्या के प्रसादसे निःशङ्क निवास करने वाली इन्द्रिय विषयवासना ने सारा काम चौपट कर दिया है। यह वासना इसी आत्मामे तो हो रही जिसे स्वभावदृष्टि की ओर ले जाना चाहते है। सारा मामला साफ भी तो दीख रहा है फिर वासना मैंट करे निजस्वभाव दृष्टिके सत्पथमे शीघ्र क्यो नही आ जाते ?

हे आत्मन् ! करो निरन्तर ज्ञानस्वभावकी उपासना। पर वस्तुमे अपना क्या तत्त्व रखा है ? किसके लिये अपना विनाश कर रहे हो ? तुम्हारे तुम ही हो मेरे राम। निरन्तर बसो अपने आपमे। सर्व विकल्पोको छोडो।

हे प्रभु ! तुम सब बातोमे समर्थ हो जो तुममे सभावित है। अधमसे अधम पदका क्लेश तुमने भोगा और भी अनेक क्लेश तुमने भोगे, इन्द्रिय सुख भी अनेक तुमने भोगे। किन्तु, रहे अन्तमे केवल एक ही चैतन्यमात्र, हा वर्तमानमे एक पर्यायके साथ ही। सब गया, तुम भी गये और सब रहा सबकी जगह और तुम रहे केवल तुम अपनी जगह।

अहो ! सर्वगुणधाम ! तुच्छ कल्पनाओसे अपनेपर खुद ही आक्रमण मत करो। जपो-अरहं सिद्ध, परमात्मा, ज्ञायक स्वरूप आत्मा।

२३ अप्रैल १९५८

पर्यायमे अहबुद्धि होना सबसे बडा पाप है। आत्माकी पर्याये भेददृष्टिमें उतनी है जितने कि आत्माके गुण है। आत्माके गुण अनत है उनमेंसे प्रकृत बातके समझनेके लिये कुछ गुण ले लीजिये जैसे ज्ञान, चारित्र व आनन्दको

ले ले । आत्मामे ज्ञान गुण वह है जिसके रूपक विविध जानकारिया हो रही हैं। यहा यदि कोई जानकारीमे अहबुद्धि कर ले याने जानकारी, भावना, विचार आदि मेरे है यही मै हूं, इसीसे वडा हूँ आदि हठ धारण करले तो वह ज्ञान गुणकी पर्यायमे अह बुद्धि कहलावेगी। वस्तुत भावना यह होना चाहिये कि उक्त पर्यायोमे से गुजरता ज्ञानसामान्य जो कि त्रैकालिक एक स्वभाव है वह मैं हूँ।

आत्मामे चारित्रगुण वह है जिसके रूपक काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि होरहे हैं। यहां यदि कोई इन विकारोमे अहबुद्धि करले याने क्रोध आदि करता हुआ माने कि मैं ठीक हू, यही मैं हूँ आदि हठधारण करले तो वह चारित्रगुण की पर्यायमे अहबुद्धि कहलावेगी। वस्तुत भावना यह होना चाहिये कि उक्त पर्यायोसे गुजरता चारित्रसामान्य जो कि त्रैकालिक एक स्वभाव है वह मैं हूँ।

आत्मामे आनन्द गुण वह है जिसके रूपक हर्ष विषाद सुख दुःख आदि हो रहे हे। यहा यदि कोई इन हर्षादि विकारोमे अहबुद्धि करले याने हर्ष विषादादिरूपही मैं हू ऐसा पर्यायरत हो जावे तो वह आनन्द गुणकी पर्यायमे अहबुद्धि कहलावेगी। वस्तुत भावना यह होना चाहिये कि उक्त पर्यायोसे गुजरता हुआ आनन्द गुण जोकि त्रैकालिक हे तन्मात्र मैं हू।

२४ अप्रैल १९५८

यद्यपि मैं ज्ञान, चारित्र आदि अनन्तधर्मात्मक हूँ तथापि मै ज्ञानमात्र हूँ इस प्रतीतिसे वडो विशेषतायें उत्पन्न होती है।

आत्माका ज्ञानगुण चेतता है अत चेतन है, चारित्र गुण चेतता नही है अत अचेतन है। चारित्रमोहनीयकर्म भी अचेतन है जैसे कि वाकी सभी कर्म अचेतन है। यहा चारित्रमोहनीयकर्मका उदय जब निमित्त होता है तब आत्मा का चारित्रगुण विकृत होता हे इस मामलेमे वाह्य जड पदार्थोको देखलो जैसे अग्निका सान्निध्य निमित्त होनेपर पात्रस्थ जल गर्म हो ही जाता है।

इस तरह चारित्र गुण विकृत होता है परन्तु ज्ञानगुण तो विकृत कभी होता ही नही, क्योंकि ज्ञानावरणका उदय हुआ ज्ञानका विकास कम रह गया क्षयोपशमविशेष हुआ तो ज्ञानविकास बढ गया। ज्ञानका काम तो उपयोग लगाना है सो यदि ज्ञान चारित्रविकारमे उपयोग न लगावे तो उसे कहते है स्वानुभव। चारित्रविकार मे उपयोग न लगाना तव सभव है जब ज्ञान स्वकी ओर उपयोग लगावे अत सिद्ध है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के स्वानुभवकी यह व्याख्या है कि उस आत्माके चारित्रगुणके विकार मे जब उपयोग जरा भी नही जुडता है तब वह उसका स्वानुभव परिणमन है। श्रावक साधुके स्वानुभव का भी यही प्रकार रहता है कि उसके योग्य होनेवाले चारित्रगुणके विकारमे उपयोग जरा भी नही जुडता है। वीतराग आत्मामे चारित्र गुणविकार है ही नही सो उपयोग जुडनेकी सभावना का प्रश्न ही नही, वहा सर्वकाल स्वानुभव है। ज्ञानमात्र अपना अनुभव होनेपर स्वानुभव हो लेता है।

स्वानुभव ही अमृतपान है। इसके होनेपर क्लेश नही रहता।

२५ अप्रैल १९५८

मोहमे ६ प्रकारकी वासना रहती है। ये छह परिणाम आत्माके प्रवल शत्रु है ये मोही जीवोके होते हैं, निर्मोह महात्मावोके ये भाव नही होते — (१) पर द्रव्य मैं हूँ, (२) परभाव मैं हूँ, (३) परद्रव्यका मैं करता हू, (४) परभाव करना मेरा स्वभाव है, (५) पर द्रव्यको मै भोगता हू (६) पर द्रव्य का मैं स्वामी हूँ।

१— जैसे लौकिक जन भी अपने निवासवाले पर द्रव्य मकान मे ऐसा मानता नही कि मकान मैं हूँ वैसे ज्ञानी जन भी निज एक क्षेत्रावगाहमे रहने वाले पर द्रव्य शरीरमे ऐसा मानता नही कि शरीर मैं हूँ और न ऐसा अनुभव करता।

२— राग द्वेष आदि परभावामे ज्ञानी ऐसा कभी अनुभव नही करता कि यह राग द्वेषरूप मै हूँ जैसे कि लौकिक जन भी दूसरे आत्माके विचार, राग आदिमे ऐसा अनुभव नही करते कि ये विचार आदि मै हूँ।

३— सर्व वस्तुये स्वत परिणमन शील है अत ज्ञानी जन, किसी भी पर द्रव्यमे ऐसा अनुभव नही करते कि मैं अमुक पदार्थको कर रहा हूँ। जैसे कि स्वय चलनेवाली हवामे लौकिक जन भी यह अनुभव नही करते कि मैं हवाको कर रहा हूँ याने चला रहा हू।

४— ज्ञानी जीव राग आदि परभावमे यह अनुभव नही करते कि राग आदि करना मेरा स्वभाव है, जैसेकि किसी पडौसीके कार्यके लिये किसीसे झगडनेपर भी झगडनेवाला यह अनुभव नही करता कि झगडना मेरा काम है।

५— ज्ञानी जीव किसी भी पर द्रव्यमे यह अनुभव नही करता कि मैं अमुक पदार्थको भोगता हूँ, जैसे कि किसी अन्यको खाते हुए देखकर लौकिक जन भी यह अनुभव नही करते कि मैं खारहा हूँ।

६— ज्ञानीजन किसी भी पर द्रव्यका स्वामी अपनेको नही मानता, क्योंकि वह जानता है कि मेरे अस्तित्व अतिरिक्त किसी भी पर प्रव्य पर मेरा अधिकार नही जैसेकि लौकिक जन भी किसी दूसरेके मकान आदिमे यह अनुभव नही करते कि इस मकानका मैं मालिक हूँ।

२६ अप्रैल १९५८

वात तो यह वडे लाभकी है कि कमसे कम ६ माह हो पूर्ण मौन व्रत लेकर जगलके एकान्त स्थानमे रहकर स्वाध्याय, लेखन व ध्यान द्वारा आत्माका उपयोग वताया जावे। हा इस साधनाके कालमे भी सहवास, व्यवस्थाका सहयोग देनेवाले वन्धुको आधा घण्टा पढाने या शकासमाधानके लिये वोलना रख लिया जावे। इस छह माहके पश्चात् फिर कोई परिवर्तनकी आवश्यकता पडे तो कुछ परिवर्तन किया जावे। यह वात कवसे वनेगी इसका पता तो मुझे नही किन्तु आशा अवश्य है कि ऐसा वन जावेगा।

समस्त पर द्रव्य पर ही है उनसे मेरा लेशमात्र सम्वन्ध नही परके वारेमे जो राग द्वेषके भाव वनते है और वनते भी ऐसे है कि ऐसा महसूस होने लगता कि अमुक पर द्रव्य विना गुजारा नही, ये सर्व अध्यवसान पर पदार्थके कारण नही होते किन्तु खुदके विकारके कारण होते है।

कल्पनायें क्यों अधिक दौडती ? इसका कारण किसी न किसी तरहका लोभ है । धनके लोभमे, इज्जतके लोभमे, इन्द्रिय विषयके लोभमे मनकी स्थिरता रह नही सकती है जिन्हे । अपूर्व शान्ति चाहना है उन्हे तो सर्वविषयक वान्छा छोड ही देना चाहिये ।

जो अवाञ्छक है वे ही सुखी है। जिस वेशमे अवाञ्छक रहा करते है उस वेश को धारण करके भी यदि वॉछा ता रही तो फिर यह उपद्रव अन्यत्र कहा मिटाया जा सकता है ।

तुम दु खी हो तो मात्र अपने अपराधमे । कोई अन्य पुरुष किसी अन्य पुरुषका दु ख कैसे मिटा देगा । यह सारा जगत अनादिसे अब तक इसी कारण तो है कि प्रत्येक सत् केवल अपनी ही अर्थक्रिया करता है ।

कल्पनाओमे समय विताओ तो समय बीत जाता है रहना पासमे कुछ नही और कल्पनारहित होकर समय विताओ तो समय बीतता है वहा रहना अन्य कुछ कुछ भी साथ नही । फरक इतना जरूर है कि कल्पनारहित समयमें आत्मामे सहज आनन्द है और कल्पनावाले समयमे प्राकृतिक दु ख है ।

२८ जून १९५८

आत्मन् ! तुम आनन्दमय हो, परिपूर्ण हो। तुम्हे वाहर कुछ करनेको है ही नही, अन्तरमे द्रव्यत्वगुणके निजामरूपमे स्वय हो रहा है। अब और क्या चाहिये तुम्हे सारी फैसेलिटीज तो मिली मिलाई ही है।

अपने आपमे रहो, वाहर किसीकी कैसी परिणति चाह कर क्या मुनाफा ले लोगे। विश्राम चाहो। प्रतिभासमात्र स्थिति हो रही है, होने दो। आगे किसी तरङ्गके लिये ज्ञानसमुद्रमेसे वाहर मत झूको। रहे आओ गुप्त, जनता से ओझल, स्वय वाहरी भावसे रहित।

कैसा उपयोग बनाने में हित है, आनन्द है इतना निर्णय कर लेनाही तो बडप्पन है फिर उस रूप उपयोग बनाना उत्कृष्ट बडप्पन है ।

आत्मा स्वय आनन्दमय है व ज्ञानमय है फिर इस निज ध्रुव तत्वका उपयोग छोडकर अध्रुव, निजके ज्ञान और आनन्द दोनोसे हीन वाह्य तत्वके उपयोगमे मिलता क्या है ? आकुलता। क्यो मिलती है आकुलता ? इसलिये कि परके वारेमे या परसे कुछ चाहता है और उसकी पूर्ति उस ढगमे कभी हो ही नही सकती। इसलिये आकुलता ही अनुभवमे रह जाती है।

इस पर दृष्टिका फल ससार परिभ्रमणही है, जन्ममरणकी सतति वढाना ही है। प्रेम आतमन्‌अपनो दया करो, अपनेको भूलकर अपना घात न करो निज स्वभावकी दृष्टिसे समस्त क्लेश कदुज्ञानके है। दुखोसे वचनेके लिये सर्व प्रयत्न करने निज स्वभाव दृष्टिका उद्यम करो। एतदर्थ परको पर एव चाहे वै जानकर उनसे उपेक्षा भाव धारण करो।

२६ जून १६५८

परकी ओर दृष्टि जाती क्यो है ? इसलिये कि तुम अपना आनन्द लेना नही चाहते। हम अपना आनन्द क्यो नही चाहते। हम अपना आनन्द क्यो नही लेना चाहते ? इसलिये कि तुम्हे अपनेमे स्वय आनन्द है और स्वयमे स्वयसे प्रकट होता है इसकी तुम्हे खवर नही। इस खवरके वाद भी तो कभी कभी परकी ओर झुकाव होने लगता। इसकी वजह क्या है ? पहिले भ्रम किया था सो उस भ्रमके नष्ट हो जानेपर भी उसके सस्कार वश कभी भी परकी ओर झुकाव होने लगता। फिर इन सव आपत्तियोसे दूर होने का उपाय क्या है निरन्तर चेतन्य मात्र आतमतत्त्वकी भावना, दृष्टि, आलम्बन आदि द्वारा उपासना करना सर्व आपत्तियो से उपाय है।

यद्यपि कर्म साथ है उनका उद्देश्य भी चलता है, तन्निमित्तक प्रभाव भी आत्मा मे होते है। तथापि अनेक आत्मा वाधाओ से मुक्त हुए है यह किस प्रसादमे हुआ। अपने पुरुषार्थ, तत्त्वज्ञानके वलसे हुआ।

तुम्हारा कामतो वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करने जाना है। इनके आगे क्या चाहिये होना उसका विकल्प मत करो, सिद्ध होगो, वोकेको इसमे रच

गु जाइश नही है, क्योकि वस्तुस्वरूपकी यथार्थ दृष्टि थोडी वहुत करके तो तुम अभी ही उसके प्रभाव का परिचय ले लोगे।

३० जून १९५८

सर्व गुणोका निधान, अपने सर्वस्व करिके समवेत, परिपूर्ण, अखड अच्छेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अवध्य, अदाह्य, अवद्ध, अस्पृष्ट, नित्य, निरञ्जन, नियत, एकरूप, असयुक्त, टङ्कोत्कीर्णसम निश्चल, टङ्कोत्कीर्णसम स्वविकासित, शुद्ध, वुद्ध, ज्ञायकस्वरूप निज आत्मतत्वका अवलम्बन हो। इस कार्यसे वढकर अन्य कुछ है ही नही।

हे सर्वज्ञ देव! जिस कृतिके प्रसादसे आप परमात्मा हुए वह कृति करनकी वस्तु है। आपने वताया कि उस कृतिके लिये कर्ताका जो ईप्सिततम है वह तुम स्वय ही हो तो हो। फिर मुझे मेरा आश्रय करनेमे क्यो विलम्व हो रहा है।

दृढविश्वासता, दृढसकल्पता कार्यको सम्पन्न कराती है। हमारा हममे दृढ विश्वास हो ऐसी वात होनेपर आन्तरिक उन्नति सुगम हो जाती है।

मैं चैतन्यमात्र हू। उडना व गिरना मेरा भावमात्र है। चलना व ठहरना मेरा भावमात्र है। लगन व उपेक्षा मेरा भावमात्र है। भोग और अभोग मेरा भावमात्र है। कर्म और अकर्म मेरा भावमात्र है। सद्भाव व असद्भाव मेरा भावमात्र है। व्रत और अव्रत मेरा भावमात्र है।

मैं मेरा स्वय हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कुछमे अपना कुछ भी दू ढना अपनेको ना कुछ वना लेना है।

वडेका वडप्पन यही है कि वह अपने आपका निरपेक्ष स्वभाव पहिचान जावे। यदि एक यह ही काम न हुआ तो कितना ही वैभव जोड ले, कितनी ही इज्जत वनाले कुछ भी उन्नति नही, वडप्पन नही।

१ जौलाई १९५८

ज्ञानी जनो की लीला ज्ञानी ही पहिचान सकता। जो लीलाये है उसकी वह तो कमजोरी है और जिस तत्वदृष्टिके कारण वृत्तिया लीलाका नाम देती

है वह है ज्ञानीपन । ऐसे ज्ञानीपन और लीला इन दोनोका समावेश होना अन्तरात्माकी अद्भुत विलक्षणता है। वृत्तिया तो कमजोरी है और तत्वदृष्टि आत्मबल है इस प्रकार प्रबलता और निर्बलता, इन दोनोका समावेश होना अन्तरात्माकी अद्भुत विलक्षणता है।

समागमतो सब दु खका मूल है। असज्जन पुरुषका समागम होनेपर दु ख होता है। और सज्जन पुरुषका वियोग होनेपर दुःख होता है। सर्व प्रकार विविक्त केवल एक अपने आपकी सदा आनन्दोत्पादक है।

कुछ मिले, कुछ जावो, कुछ बनो, कुछ बिगडो, जो चाहे सयोग वियोग हो, किन्तु निज स्वरूपकी दृष्टि रही आवो तो सन्तोष एव शांतिका अभाव न रहेगा।

जब चाहो तब आनन्द ले लो ऐसी शक्ति वही प्रकट होती है जहा आत्मा का मर्म आत्माके उपयोग जब चाहे आ सके। यह बात वही प्रकट होती है जहा आत्माके मंका ज्ञान व प्रत्य मदृढ हो चुका हो।

जिसे आत्माका परिचय है उसके ऐसी हिम्मत है कि जब क्लेश हो और मिटानेका उपयोग करे तब ही आत्ममर्म प्र दृष्टि देकर अपना क्लेश दूर कर सकता है।

ज्ञानीकी यह कला स्वानुभवके बलपर प्रकट हुई है। हे चैतन्य महाप्रभो! तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय।

२ जौलाई १६५८

जिस समय उपयोग मात्र चैतन्यवृत्तिको ग्रहण करता है उस समय शुद्ध सहज आनन्दकी व्यक्ति है। उपयोगचैतन्यवृत्ति मात्रसे परिणमे इसका उपाय अभेदरूपसे आत्माका परिज्ञान है।

आत्मा गुणपुञ्ज है यह तो मात्र व्यवहारसे कथन है। आत्मानिश्चय

से एक अभेदस्वभावरूप है जो कि अनुभवगम्य है, किन्तु वक्तव्य नही। इन्ही शब्दोसे वक्तव्य कह लिया जावे तो कह लिया जावे।

द्रव्य अभेद है किन्तु परिणमनशील होनेके कारण प्रति समय परिणमती रहती है। इस परिणमनवृत्तिके कारण व्यतिरेकव्यक्तिया वास्तविक हैं। गुण द्रव्यके विशेषक है।

गृहस्थधर्म धर्मानुकूल पालित किया जावेतो वहा भी सन्तोष, शान्ति, प्रतिभा अद्भुत रह सकती है। धर्मकी विशेषता आनन्दमय परिणतिरूपस परिणमनेकी है। जहा भगवभक्ति, गुरुपासना, स्वाध्याय नानाविध सयम, इच्छानीरोध और उदारताकी वृत्ति चले वहा इतनी पात्रता है कि जब कभी विकल्पवृत्ति मेट ले महज आनन्द पा ले।

कामकी बात तो इतनी है कि परकी चिन्ता छोड कर विश्राम पाया जावे। यह न कर सके तो सच जानो देहका आराम तो हराम है। देहके आरामसे आत्माको शान्ति नही मिलती। आत्माके ज्ञानोपयोगसे ही आत्मा शाति पाता हे।

आत्माका अद्भुत वैभव चैतन्य ज्योति है। निर्मलता होनेपर इस ज्योतिका जो चमत्कार प्रकट होना हे उसपर मलिन सस्कारनाले पुरुष आश्चर्य प्रकट करते ह। ॐ तत्सत्परमात्मने नम। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

३ जौलाई १९५८

योग कहते है लगनेको। इस शब्दके साथ किसी पर वस्तुका नामका शब्द नही है, अत अपने आपमे लगनेको योग कहते हे यह अर्थ बना। उस उपसर्ग उत्कष्ट वाची हे सो उत्कष्ट योग याने निर्विकल्प समाधि को उद्योग कहते ह। उद्योगी पुरुषको लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होती हे। लक्ष्मी शब्दका अर्थ स्वार्थार्थी पुरुषोने धन कर लिया है किन्तु वास्तवमे लक्ष्मीका अर्थ धन नही है। लक्ष्मीका अर्थ चिन्ह हे। लक्ष्मी और लक्ष्म एक ही अर्थ वाचक है। लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिङ्ग है और लक्ष्म शब्द नपुसक लिङ्ग हे।

यहाभी लक्ष्मी शब्दके साथ किसी पर वस्तुके नामका शब्द नही दिया गया है अत. लक्ष्मीका अर्थ हे अपना चिन्ह् याने आत्माका चिन्ह । आत्माका चिन्ह ज्ञान । मो ज्ञान ही लक्ष्मी है ।

अव यह भाव हुआ कि जो उद्योग करता है याने उत्कृष्ट आत्मतत्त्वोपयोग करता है वह सपूर्ण ज्ञान लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है ।

ज्ञान लक्ष्मीको कर्म देता है ऐसा अज्ञान पुरुषोका कहना हो सकता हे । जानकार तो निश्चल श्रद्धाके साथ यह देखते है कि उद्योगीको लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होती है ।

उद्योगका प्रयोग दुर्योगका आयोग समाप्त करके अधियोगके उपयोगके सुयोगका नियोगकर ही देता है और परायोगके अभियोगका वियोग भी कर ही देता हे । एतदर्थ नियोग समयोगके अनुयोगसे अपना प्रतियोग प्रारम्भ करता है ।

आज श्री शाँतिस्वरुप जी पोस्टमास्टर जनरल यू० पी० सपरिवार मिले । सभी शाति एव कुशल हे । वडोकी कुलपरम्परा ऐसी ही श्लाघनीय होती है । उनके वच्चोको धर्म विद्या पढानेके लिये उनकी माताजोको कहा जो उन्होने स्वीकार किया । यदि मातायें अपने वच्चोको व्यवस्थित रूपसे धर्म विद्या पढाने लगेतो यह उत्तम क्रान्ति होगी ।

४ जौलाई १९५८

निर्द्वन्द्वता ही परम सुख है । आत्मातो स्वभावत निर्द्वन्द्व है परन्तु अपने स्वभावकी रुचि न करके व द्वन्द्वकी रुचि करके निर्द्वन्द्वताका घात स्वय किया है इसने ।

आज दुपहरको सहारनपुरमे वर्षायोग स्थापनाकी ह जिसमे ९ मील तक का चतुर्दिशमे पैदल जाने आनेकी सीमा रखी है तथा गुरुजीकी विशेष अस्वस्थ दशा यदि हो जिसे कि असाध्यसा समझलिया जावे उस स्थितिमे गुरुजीके समीप किसी भी प्रकार जल्दी पहुचना रखा है ।

यदि महर्षियोके तपोजीवनकालकी रचनाये आज प्राप्त न होती तो जगत् घोर अन्धकारमे बना होता। ऐसा हो तो नही सकता, किन्तु सभावनासत्य यह बात है अवश्य।

विकारभावका उत्पन्न न होना इससे बढकर वैभव कुछ नही है जो आनन्द विकार न होनेके कारण होनेवाले स्वान्त स्पर्शमे है वह अन्यत्र कही है ही नही।

जीवका घात विकारभावसे है। कोई किसीके प्रति कोई अपराधकी बात लोकमे प्रसिद्ध करे, यदि वह अपराध तथा कीर्तिकी चाह नही है उसमेतो उसका रच भी विगाड नही होता किसीके दुराशयपूर्ण यत्नसे। विगाड तो उसका तब हो जबकि वह स्वय अपराधी है या अपराधी न होता हुआ भी उसको कीर्ति की आसक्तिके कारण भय हो कि यद्यपि अपराधतो मैंने कुछ नहीं किया किन्तु अमुकके अपवादके लानेपर लोग मुझे क्या कहेगे। यदि दोनो प्रकारमे आत्मवली है कोई तो उसका कौन क्या विगाड कर सकता हे ?

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह रागरूप दुखकी खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान ॥

५ जौलाई १९५८

कलह, विपय आदिके कार्यमे प्रवृत्त करनेके लिये शुद्ध तत्वका उपदेश उपदेश नही है। यह तो भ्रमजालमे बढानेका उद्योग है। सत् उद्देश्य लेकर दिये गये उपदेश को सदुपदेश कहते ह। असत् उद्देश्य लेकर दिये गये उपदेशको असदुपदेश कहते हैं।

देखो तो जगतमे सव कुछ है किन्तु नाम किसीका नही है। व्यवहारमे जिन जिन नामोको लेकर हम पुकारते हैं। कहते हैं, वे सव विशेषण हैं। जैसे आत्म जो निरन्तर जाने सो आत्मा, चेतन-जो प्रतिभास करता रहे सो चेतन, ब्रह्म-जो अपने गुणोसे वर्द्धमान हो सो ब्रह्म, जीव-जो प्राणधारण करे सो जीव, पुद्गल-जो पूरे और गले सो पुद्गल आदि।

अव देखो-जिसके नामका भी ठिकाना नहीं है उसकी पर्यायमे याने मायामे

मूढ जीव मोहित रहता है।

सच जानो तो ज्ञानका काम ज्ञानसे ही निकलेगा । मन, वचन, कायकी चेस्टावोसे ज्ञानके कार्यकी पूर्ति कभी हो ही नही सकती।

मेरा यहा अन्य कुछ है ही नहीं । फिर, परके सम्वन्धमे विकल्प करना ऐकान्तिक मूर्खता है या नही ?

जो आत्मा जैसे सामर्थ्यसे जैसे वातावरणमे जैसा कुछ करेगा उसे विशिष्ट ज्ञानी जान लेते इसलिये ऐसा कहना भी अनुपयुक्त नही जब जैसा होना है या ज्ञानियोने होता देखा है वैसा ही होगा। किन्तु जो होता है वही होगा ऐसा जान जानेसे कोई पापमे भी लग सकता, कोई पुण्यमे भी लग सकता, तो कोई निर्विकल्प भावरूप धर्ममे भी लग सकता । इसलिये जो होना है सो होगा इसमे जानने मात्रका कुछ भी चमत्कार नही है । ऐसा जानता हुआ भी जो धर्ममे लगता है वह वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानके प्रसादसे लगता है। अतः वस्तुस्वरूपके यथार्थ वोधके यत्नमे लगना चाहिये।

६ जौलाई १९५८

मैं परिपूर्ण हूँ, अधूरा नही हू। कोई भी सत् अधूरा नही होता। यह तो सत् की एक अनिवार्य विशेषता है कि वह प्रति समय अपनी दशा धारण करता है। एतावता द्रव्य अधूरा नही कहलाता। जिस गुणके कारण परिणमन शीलता है वह गुण शाश्वत व स्वय परिपूर्ण है।

ऐसा तो है कि मेरे गुणोका विकास परिपूर्ण नही है। किन्तु वहाँ यह नही है। किन्तु वहा यह नही है कि विकास किन्ही अन्य पदार्थोसे आवेगा या वे गुण पदार्थोमे आ जावेगे । गुण समस्त परिपूर्ण अभी भी है, हमेशामे है, सदा रहेगे । हमारी ही किसी कृतिपर येगुण आक्रान्त है और हमारी ही किसी कृतिके निमित्तसे ये गुण विकसित होगे परिपूर्ण।

मेरा शरण निरपेक्ष आत्मतत्वका दर्शन है । इस ही निज चैतन्य प्रभुके दर्शनसे मेरा उद्धार है।

विकल्प ही हमारा शत्रु है। कदाचित् शारीरिक व मानसिक हित प्रयो-

जनके लिये कोई विकल्प हो, चलो, होवें। किन्तु, जिन विकल्पोसे कोई हित ही नही सधता, कोई लौकिक सिद्धि भी नही है उन विकल्पोका करना कितना वडा अपने आप पर अन्याय है।

हे आत्मन्! सर्व विकल्प छोडकर एक इस नित चैतन्य तत्वका ही अनुभव कर। इससे रहे सहे काम विकार, क्रोध, मान, माया, लोभ अत्यन्त शिथिल हो जावेंगे और ऐसे शिथिल हो जावेगे कि भविष्यमे भी सत्ता नही पावेगे। कर एक इस आत्म तत्वका अनुभव। इससे पापकर्मकी निर्जरा होगी ही साथ ही यथासम्भव अन्य कर्मबन्धन भी कटेगा, फिर विकार विपत्ति न सतावेगी।

७ जौलाई १९५८

आत्मा और कर्मका परस्पर नैमित्तिक सम्बन्ध अजोड है। इस आपत्तिके छूटनेका उपाय भेद विज्ञान है। कर्मका उदय आता है तब आत्माके राग द्वेष होना पडता है। आत्मा निर्बल है तब कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाकर आत्मा राग द्वेषादि रूपमे परिणम जाता है। निर्बल आत्माके साथ कर्मबन्ध लगा ही है। जिसके साथ कर्मबन्ध लगा है वही निर्बल हो सकता है। चारित्र मोहका उदय होते समय आत्मभूमिकामे यद्यपि रागादि हो रहे है तथापि शुद्ध आत्मतत्वका अनुभव यदि कोई ज्ञानी करे तो अनुपयुक्त राग रह जायगा। कुछ मन्द अनुभाग इस दर्जेके है कि उनके उदयमे रागदाआगमन नही बा पाता। आत्मा जब रागादिरूप परिणमता है तो कर्मोदयको निमित्त कहते। इत्यादि अनेको वाते दृष्टिके अनुसार ठीक ठीक हो जाती है।

कुछ भी हो, कुछ भी जानो, हैरानी अवश्य अजोड है। अपनी आत्माकी निर्बलता मात्र बखानने वाले उसी घाट पानी पीते है और कर्मोदय निमित्तकी वरजोरी बखानने वाले भी उसी घाट पानी पीते है। ससार चक्र अजब है।

आत्माकी निर्बलताके सिद्धान्त वाले शुद्ध आत्म तत्वके अनुभवमे पार हो जाते है और कर्मोदयजनित रागादिके सिद्धान्त वाले भी शुद्ध आत्मतत्वके अनुभवसे पार हो जाते है।

निर्दोप आत्माकी वाणी अमृत है। विनयपूर्वक इस अमृतका पान करनेसे आत्मा अनुभूत हो जाता है। मद्पूर्वक सुनी हुई वाणी अमृत ही नही है। ॐ नम शुद्धात्मदेवाय।

जड रुचिसे आत्मा जड वना रहेगा। जड की रुचि मोहमे सम्भव है। भेद विज्ञानीको जडमे रुचि नही होती। नर देहोको देखकर अशुचि व अहित विचारो निज देहको देखकर "विनाशी है" विचारो।

८ जौलाई १९५८

सारी सभाल तो उपयोग ही है। जिनका उपयोग पर्याय मे लगा है। वे आत्मस्वभाव की क्या प्रतीति करेगे और आत्मस्वभाव की प्रतीति विना ज्ञाता द्रष्टा रहनेका क्या व्यवहार करेंगे। वे तो मनुष्य मानेगे अपनेको सो मनुष्यके व्यवहार विपय कषाय या दया सेवा आदि इनको ही करेगे। पर पदर्थों की ओर जो लगेगा सो पद पदपर राग व द्वेप करना पडेगा। हाथ पर्याय वुद्धिमे कितनी विडम्वनाये लग गई।

देखो— आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है, अनादि अनन्त है, इसके होनहारकी जिम्मेदारी खुदपर है। आगे क्या होगा यह सव अपनी वर्तमान साधनापर निर्भर है।

अपनी सावधानी ही अपनी माता है, रक्षिका है, कोई अन्य चाहे कितना भी प्रेमी हो उससे भी अपने किसी प्रयोजनकी आशा रखना ठीक नही है, क्योकि ऐसा ही उस दूसरेका चित्त हो जाय पहिले तो इसी वातका ही नियम नही है।

अपना आशय पवित्र रखो, किसी दूसरेको क्लेश पहुचे। ऐसी वुद्धिपूर्वक योजना मत करो। इस विनश्वर असार ससारमे तुम अपनेको दु ख से मुक्त करनेका यत्न कर लो, अन्य वातोमे क्या रखा है।

जो जीव अन्य जीवोसे अपनेको सहूलियतके अधिकारका अधिकारी मानता है वह समता, समाधिका पात्र नही हो सकता।

९ जौलाई १९५८

कोई लेखन व वचन किसी भी रूपमे किसीके आक्षेपमे न हो ऐसा आज दृढ सकल्प करता हू। मुझसे जीवनमे ऐसी गलती कभी हुई नही प्राय। केवल २ वर्ष पूर्व ऐसा ही वातावरण होनेसे एक आत्मा पर उनकी कुछ गलतियोको अव्यक्तरूपमे डायरी मे किसी जगह लिख डाला था। उसके बाद आज तक हमे उसका न सस्कार रहा न पता। हमारी अज्ञानदारीमे वह सब डायरीके प्रकाशित होनेके सिलसिसेमे प्रकाशित हो गया। उसका आज पता चला और उसके एवजमे हमने उक्त दृढ सकल्प किया। यद्यपि उन पुरुषपर मेरे हृदयमे आदर है उनकी कई विशेषताये हमे रुचिकर है। तथापि किसी अवसर व आवेशमे गलतिया खटकने के कारण लिखा गया। उसका मुझे खेद है।

व्यर्थके विकल्प उत्पन्न न हो ऐसी साधना परम व्यवसाय है। इसका यत्न करो।

हे सहजसिद्ध तत्त्व ! तुम स्वय परिपूर्ण हो। तुम्हारी दृष्टि विना यह उपयोग लोक यात्रा कर रहा है और विरुद्ध नाम नाटक खेल रहा है।

वह क्षण धन्य है जिस क्षण समस्त सकल्प विकल्प मुक्त हो निस्तरङ्ग शुद्ध चैतन्यस्वभावका अनुभव करू।

जिस तत्त्वमे पहुचकर हे देव ! तुमने विजय पाई, सदाके लिये सर्व झगडो से मुक्त हुए उस तत्त्वकी आलम्बन मुझे हो इसके अतिरिक्त अन्य गल्पोसे कोई प्रयोजन नही।

परमात्माकी जो स्थिति है उसका वर्णन करनेमे बडे बडे बृहस्पति भी समर्थ नही है। वह तो सर्व आनन्द परिपूर्ण है, इतना ही नही, किन्तु भविष्य मे कभी भी इसमे भङ्ग हो ही नही सकता।

१० जौलाई १९५८

किसीके निन्दाके शब्द निकल जाय या किसी को दुःख हो ऐसे कठोर वचन

निकल जाय या किसी लोभवश छुपकर कोई कार्य किया जाय या किसीप्रकारका नैतिक पतनकी चाल चली जाय या परिग्रह को मनमे लालसा रखी जाय तो ये वृत्तिया क्लेशकी प्रबल कारण हैं। इन गलतियोमे महान् शोक और विषाद होगा। उक्त वृत्तिया न हो तो फिर क्लेशका कोई कारण ही न रहेगा।

अहो देखो तो स्वयके निरपेक्ष स्वभावका चमत्कार। कैसी कैसी परिणति -

* यो को धारण कर कर धारण करती रहनेवाली यह धातु हैं। स्वयके परिणमन मे ही समर्थ चैतन्य स्वभाव जब जहा जिस रूपसे परिणम सकता है परिणमनता है। इसमे (मेरे मे) कितनी विशेषता है। कब कहा, किस निमित्तसान्निध्य मे किस प्रकार परिणम लेता है, सब इसकी विशेषता है।

बाह्य निमित्तभूत पदार्थोमे किसी अन्य को परिणमा देनेकी विशेषता नही है। परिणममान पदार्थमे यह विशेषता है कि वह निमित्तसन्निधान होने पर अमुकरूप परिणम जाय है

निमित्तभूत पदार्थमे निमित्तत्व शक्ति है उस शक्तिका विकासपरिणममान पदार्थके परिणमनमे निमित्त हो जाना मात्र है। जैसे सत्य पदार्थमे ज्ञेयत्व शक्ति है उस शक्तिका विकास जाननेवाले आत्माके जानन परिणमनमे निमित्त हो जाना मात्र है ज्ञेय है अत: सब आत्मावोको उसे उसे जानना ही पडे ऐसा हठ नही है क्योकि उस योग्यतासम्पन्न आत्मा ही जान सकते है। इस तरह निमित्त है अत सभी उन उपादानोको निमित्तके अनुरूप विभावरूप परिणमना हो पडे ऐसा हठ नही है क्योकि उस योग्यता सम्पन्न ही पदार्थ उसरूप परिणाम सकते हैं।

११ जौलाई १९५८

आत्मामे संस्कारधारणकी अतुल विशेषता है। छोटे छोटे खोटे भाव भी उसी कारण बहुत खोटा समय दिखा देते है।

* हितार्थीका कर्तव्य है कि वह थोड़े समयको भी खोटा भाव करनेकी थोडी भी स्वच्छन्दता न आने दे।

सबके युगमे धर्म पद्धतिके प्रति एक ऐसा बुरा रोग लग गया है जिससे

बढकर अन्य कोई रोग कहा ही नही जा सकता । वह है पूर्वाचार्योंके कथनको गलत गलत बताकर अपने विचारोको भरना । यह उच्छृङ्खलता केवल वही लोग कर पाते है जो थोडासा ज्ञान और वेशकेवलपर समाजमे थोडीसी पैंठ पा लेते है । विशिष्ट ज्ञान होनेपर तो पूर्वके वीतराग महर्षियोंके वचनोपर श्रद्धा हीबढती है ।

अफसोस यह है कि ऐसे धर्मकुठार पारतियोंके भी सहायक कुछ भोले लोग प्राय सर्वत्र मिल जाते हैं ।

इस रोगके मेटनेका उपाय अभित क्रान्तिपूर्ण लेखो द्वारा समाजको इन वाक्यातोंका सुपरिचय करा देना है ।

यह बात एक या दो की नही है किन्तु दहाईके सख्यामे इस बात के कर्ता हो रहे हैं । इस लिऐ मैने इस लेखनमे किसी व्यक्तिपर आक्षेप न समझकर भाव प्रकट किया है ।

मेरी तो भावना है कि कुछ आगे बात ही न घटे और उन प्रतिशोधकोमे स्वय सदबुद्धि व श्रद्धा आजावे । यही बारबार भावना है ।

मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वो का जिन्हे विशद अनुभव हो गया है उन्हे आचार्योंके प्रणीत परोक्षभूत अन्य पदार्थ विषयक वर्णनमे प्रवल श्रद्धा होती है । मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोमे तो यह नही कहना चाहिये कि सर्वज्ञप्रणीत हैं इसलिये ठीक है किन्तु यह धारण बनना चाहिये कि मेरे अनुभवमे उतरे इसलिये मैं ठीकसमझता हूँ इसी श्रद्धा वाले पर सर्वज्ञ वाक्योमे प्रमानता वा निशकताकी श्रद्धा होगी ।

१२ जौलाई १९५८

द्रव्यसामान्यका स्वरूप समझ लेना भी प्राय उतना ही हितकर है जितना आत्मतत्त्वके बारेमे समझ करना हितकर है । इसका कारण यह है कि सामान्य-स्वरूपका विषय व आधार स्वय होता है वैसेतो कायदेमे न पर है न स्वय है किन्तु प्रयोगमे स्वयके आधारमे ही उन विषयोका प्रतिभास है जिनका विषय

कोई पर पदार्थ नही ।

दर्शनके मुख्यदो लक्षण है (१) महासत्ताके प्रतिभासको दर्शन कहते है, (२) अन्तर्मु ख चित्प्रकाशको दर्शन कहते है। इनदो लक्षणोका समन्वय यही प्रदर्शित करता है कि सामान्यस्वरूपके वोधका विपय व आधार ज्ञाता स्वय हो जाता है ।

विषय कपायके विकल्प न होनेदो, तत्त्वज्ञान त्रिविध है उनकी उपासनामे समय वितावो । उसकी उपासनाके अनेक उपाय हैं-(१) स्वाध्याय करना, (२) उसबारेमे कुछ लिखना, (३) किन्हीको तद्विषयक शिक्षा देना, (४) तत्वका मनन करना, (५) किसीसे तात्विक अध्ययन करना, (६) तात्विक चर्चा समाधान करना, (७) कभी तत्त्वविपयक विकल्पभी छोडकर परम विश्राम मे रह जाना ।

रागकी कणिका भी अहित है। फिर देखो राग कैसा है। राग अभावमे उपेक्षा हुए विना सचाई व शान्ति नही आसकती ।

सर्वोपद्रवरहित चेतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी भावना ही एक कर्तव्य है, शेषतो अकर्तव्योको कर्तव्य माना जारहा है ।

आत्मका कर्तव्य चेतनाविलासका व्यवहार है। हा मनुष्यादिमे हूँ इस भावना से वने हुए मनुष्यका कर्तव्य सैकडो व्यवसाय है।

हे परम पावन पतितोद्धारक पापपुन्यरहित परमपारिणामिक भाव । तेरी दृष्टी हुई कि अलौकिकविभूतीमान वह द्रष्टा हुआ उसी छण । इसमे शका की रच भी वात नही है ।

१३ जौलाई १९५८

सामायिक मोक्षमार्गानु सरणका अति प्रधान उपाय है समता परिणामका नाम सामायिक है । अथवा जहा समता परिणाम लानेका यत्न हो ऐसी वृत्तिका नाम सामायिक है ।

मक्खी अङ्गपर बैठे चले और तव वाह्य देहपर उपयोग जाय और उसको

हटानेका साधारण यत्न करले तो वहा दे गोतो आत्मन् ! कितने वडे लाभकी बातसे हट कर कितनी हानिवाले काममे लग गये। हे ज्ञानानन्दघन ! क्या यह मूढता उचित है। उस दुर्भावसे हटकर शीघ्र निजानुभवके उद्योगमे लग।

मक्खी एक असमान जातीय द्रव्य पर्याय है वह अनेक द्रव्योका पिण्ड है एक-आत्मा व अनेक पुद्गलाणुका पिण्ड है तद्गत अनेक आत्मा और है उनके आश्रित भी अनेक पुद्गलाणु है। वे प्रत्येक द्रव्य केवल अपना परिणमन करते हैं। इन मक्खियोके सयोगको निमित्त पाकर जो कुछ रूप रस गन्ध स्पर्श आकारमे देह पर बीतती है वह इस देहका परिणमन है। देहको विषय बनाकर अपना जो उपयोग बिगाडोगे वह तेरा परिणमन है।

बता क्या तुझे बिगाड ही इस्ट है। अपने सरल सहज साधु स्वभावका आश्रय छोडकर विकट, असहज, अशुचि देहपर दृष्टि देकर अपनी प्रभुताको बरबाद करना क्या तुझे कोई उत्तम कर्तव्य दीख रहा है।

अरे ज्ञानघन ! हर सर्व पर विकल्पोसे, परमविश्रामसे इस आनन्दघन के स्वरूपमे रह कर परम आनन्दका अनुभव कर। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

१४ जौलाई १९५८

उपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य ही मर सकता, अन्य गतिके उपशमसम्यग्दृष्टियो का मरण नही होता। शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यञ्चो का मरण तो है किन्तु वे मरकर शुक्ललेश्यावाले देवोमे उत्पन्न नही होते, शुक्लले-श्यावाले मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्य हो हो, उसकी उत्पत्ति शुक्लले-श्यावाले देवोमे हो सकती।

उक्त प्राकृति विशेषताओ को देखकर निश्चय होता है कि जीवकी अव-स्थानुकूल पर्याय शक्तिया भी विलक्षण हे।

ज्ञान व आनन्द पर पदार्थसे किसीके नही होता, चाहे वह "पर पदार्थसे ज्ञान व आनन्द होता है" ऐसी मान्यता वाला हो या "पर पदार्थसे ज्ञान व आनन्द नही होता है" ऐसी प्रतीति वाला हो।

कल्याणके लिये जितना ज्ञान चाहिये जो आनन्दका भी साधक है वह प्रायः परिचित बन्धुवोके सबके पास है मैं शुद्ध चेतन्यमात्र वस्तु हूँ और इस श्रद्धा व उपयोगमे परिणत हुए मुझको बन्धन नही है प्रत्युत बन्धनसे मुक्ति होनेका आरम्भ है इतना अवबोध सुदृढ रहो व ऐसा उपयोग रहो फिर कुछ कमी नही है।

पर वस्तुका उपभोग असार है। पर वस्तुका तो कोई उपभोगकर भी नही सकता किन्तु पर वस्तु ज्ञानको विषय बनाकर और तद्विषयक राग वुद्धिकर कल्पना किया करता है। वह भी असार है। द्रव्यरूपसे उपभोगमे भी आत्माका कुछ व बहुत बिगाड ही है, हितकी तो उस वृतिसे रच भी आशा नही।

१५ जौलाई १६५८

आज शामको श्री हरि चन्दजी रि० ओ० इटावा सपरिवार वर्षायोगमे रेहनेको आये। ये बहुत ही सज्जन प्रकृतिक हैं।

शुद्ध चेतन्यमात्र निज वस्तुके अतिरिक्त किसी भी द्रव्यसे रंच भी तो सम्बन्ध नही है, फिर यह जडता कैसेकी जा रही है जिसमे जडके समागम व सग्रह के प्रति अभिरूचि हो जाय।

एक तत्त्व ज्ञान ही शरण है, सर्वसार यही है। निजको निज परको पर जान फिर दु खका नहि लेश निदान।

निज देह व पर देह पर रूचि न जाय यह निर्मलताका प्रारम्भ है। निज व पर जीवोमे एक शुद्ध चैतन्यकी ही दृष्टि रह जावे। यह निर्मलताका आखिरी यत्न है इसके बाद सब स्वय हो जावेगा।

जब जब कुछ विकल्प हो "णमो अरहताण" या "ॐ णमो अरहताण" का ध्यान करो और करो भी "ॐ शुद्ध चिदस्मि" की भावना।

कायचेष्टाये बन्धकी कारण बन जाती है क्योकि इस समय कायचेष्टा किसी राग पूर्वक ही तो होती है अत. अधिक यत्न निश्चेष्ट रहने का करो, यह भी एक आत्माहितका बाह्यसाधन है।

में मैं हूँ, अन्य सब पर है। कुछ भी तो क्षण ऐसा हो हमे जब किसी भी परका स्मरण न हो, किसी भी पर पदार्थ पर उपयोग न जावे। यथार्थ ज्ञानमे ही यह चमत्कार है। हे सुबोध जयवत हो।

स्वहित करना हो तो विकल्प छोडो। विकल्प छोडना हो तो स्वकी महिमा जानो स्वकी महिमा जानना हो तो द्रव्य स्वरूपका ज्ञान करो। एतदर्थ पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार व समयसार आदि ग्रन्थोका अभ्यास करो।

अपनेको आजन्म विद्यार्थी समझो। और विद्यार्थी रहो। किनमे बडे बनना है बडो मे बडे बनना है तो वहाँ पूर्ण समानता है और छोटोमे बडा बनना है तो "अन्धोमे काना राजा" की कहावत तो इसी। प्रसङ्गके लिये बनाई सो उस कहावतको चरितार्थ करके जीवन बितालो। मोक्ष मार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोके अतिरिक्त अन्य तत्त्वोमे से किन्ही सूक्ष्म तत्त्वोमे कदाचित् दो मान्यताये हो और उन दोनोका प्रवाह चला आरहा हो और कोईभी आचार्य उन दोनो तत्त्वोको रख देवे और विरोध न कर मान लेवेतो यह भी विशेषता एक महत्त्वको और सत्यको पुष्ट करती है। अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोका अन्तर भी प्रवाह रूपसे चलना और निष्पक्ष होकर वर्णन करना भी एक प्रभावक कृत्य है।

१६ जौलाई १९६८

उपशमसम्यग्दृष्टि मनुष्य व सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्य, उपशमसम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च व सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च इनके कृष्ण, नील, कापोतलेश्या नही होती। कोई कहते हो सकती।

एकेन्द्रियजीवके उपपाद समय द्वितीय गुणस्थान नही हो सकता। कोई कहते हो सकता।

सबसे बडी कषाय लोभ है। लोभ कहते हैं बाह्य तत्त्व रुचनेको। धन रुचा तो मेहनत करके मान शरीरके आरामका त्याग करके लोभ बढाया। ख्याति रुचि तो धनका त्याग करके या ज्ञान बढा करके या लोकसेवा करके लोभ बढाया।

ख्यातिकी चाह लोभका मूल है, प्रबल लोभ हे पापका बाप है। निज विशुद्ध

चैतन्यकी रुचि होने पर उक्त सभी लोभ विलयको प्राप्त हो जाते है ।

आत्मका बडप्पन निर्मलता है निर्मलता नही तो कुछ भी बडप्पन नही ।

क्या चाहना लोकमे । किसीभी अन्यका समागम क्या कर देगा मुझे । पर सग्रह दु खका ही मूल है । देहियोके सयोगमे दु खकी ही परम्परा बढाई, लाभ कुछ नही लिया ।

१७ जौलाई १९५८

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्यत्वगुणके कारण परिणमता रहता है अत सर्वस्वतन्त्र हैं । फिर, किसीका किसीके साथ सम्बन्ध मानना तथ्य-भूत कैसे होसकता है ।

परके प्रति आकर्षण होना यही विपत्ति है और मूर्खता है । यह अन्तरङ्गसे कैसे मिटे । मिटनातो सरल हे, मिटनेके ढगपर आये तो । मिटातो ही है अनेको का । हम भी मैट सकते ही है ।

ससार विषमवन हे जव जो समागम मिला उमीमे मोहित होजाना यही बान मोहियोके पडी है ।

मैं शुद्ध चेतनामात्र वस्तु हूँ । इसके न तो औपाधिक भाव है और न पर द्रव्यका प्रवेश है न कोई पराद्रव्य इसका कुछ हैं ।

एकत्व और अन्यत्व द्रव्यके साधारण गुण है इससे यह विशद ज्ञात है कि एकत्व गुण सभी द्रव्योमे है अर्थात् सभी द्रव्य एक एक अकेले अकेले ही है और अन्यत्व गुण सभी द्रव्योमे है उससे यह बात पक्की होगई कि प्रत्येक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्योसे अन्य ही है, जुदा ही है । यह तो वस्तुका स्वरूप है । क्या प्रकट ऐसा ज्ञात नही हो रहा । हो होतो रहा, फिर कुछ भी वाञ्छा करना, कुछ भी आशा करना सब व्यर्थके कीचड है ।

निन्दा स्तुति दोनो प्रकट समान हैं । निन्दाके वचन भी भाषावर्गणाके परिणमन है और मुझसे अत्यन्त भिन्न हे, उनकी क्रिया मुझमे नही तथा स्तुतिके वचन भी भाषा वर्गणाके परिणमन है और मुझसे अत्यन्त भिन्न है, उनकी क्रिया मुझमे नही ।

स्वय का अभेद अनुभव हो जाना सर्वस्व पा लेना है। सहज आनन्द की स्थिति के समान, अन्य अपना है, क्या ?

जीव की विकृति चेतन प्रभु का कलङ्क तो है परन्तु स्वभाव भाव नही होने से कलङ्क नही है। अतश्च वह परकी उपाधि मानी जाती है। प्रिय आत्मन् ! अपने निरुपाधि, निष्कलङ्क स्वभाव की उपासना करो। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

ज्ञान भाव मे लगे रहना उत्तम कार्य है इसमे विषय कपाय को अवकाश नही मिलता और स्वयका आत्मबल इस पद्धति से प्रकट होता है कि विशद अनुभव व वैराग्य वढता चला जाता हे।

हे आत्मन् ! तुम अमूर्त हो, किन्तु चमत्कारी अत्यधिक हो। लोक के सकल द्रव्यो मे सार तुम ही हो।

हे आत्मन् ! अन्य तरङ्गे उठती है, उठे, उनसे मेरा क्या ? मैं अचलित स्वपरगटक शक्ति का पुञ्ज हूँ।

धन्य है सकल द्रव्यो ! तुम अपनी प्रभुत्ता को कभी नही छोडते।

आराम से ही सब द्रव्य अपना अपना परिणमन करते चले जाते। इसमे कोई द्रव्य हापड धूपड नहीं मचा रहा है। न तो कोई सर्वपरिणमनो को एक ही समय मे करता और न किसी के परिणमन को अपने मे मिलाता।

२० जौलाई १९५८

आर्यसङ्गतिका वडा महत्त्व है आर्य वे है जिनको आत्मतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा व ज्ञान व चर्या है ऐसे, रत्नत्रय धारी आर्य पुरुषोकी सगति अनेक सकट व विकल्पो का विलय कर देती है। अनार्योको सगति जव कि अनेक सकट व विकल्पोका आह्वान कर देती है।

दु खी पुरुषोकी अनवरत सगति दु खका कारण है व सुखी याने भोगविलास के आरामी पुरुषोकी अनवरत सगति दु ख का कारण है।

यथासमय दु.खी पुरुषोकी सगतीका मिलना हित पन्थके चलने का साधन होता है।

आर्य पुरुषोकी अनवरत सगति हितका कारण होता है जगतके जीवोकी शशि अक्षयानन्त राशि है। आज कोई पूछे कि ससारी जीव कितने हैं तो कह दो एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्प माण दो दिट्ठा। सिद्धेहि अणतगुणा सव्वेण विदीदकालेण। यदि अनन्त काल भविष्यका और भी बीत जाय उस समय भी यदि कोई पूछे कि ससारी जीव कितने हैं तो कह देना—एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाण दो दिट्ठा। सिद्धेहि अणत गुणा सव्वेण विदीद कालेण।

परवस्तु विषयक वाञ्छा होना ही एक उलझन है इसका फल-ससार-भ्रमण है, चतुर्गति दुःख है।

हे निजतत्त्व! तुम्हारा ही आश्रय सत्य शरण है। यहां अर्थात् बाह्य लोकमे, तो केवल आशा करनेका ही परिश्रम उठाना पड रहा है।

सकलका अर्थ "सब" लोगोने कर दिया क्योंकि लोगोको तो कल सहित यह याने शरीर सयुक्त आत्मा ही सब लगा।

२१ जौलाई १९५८

जीवोकी गतिविधिया विचित्र हैं। यह विचित्रता अहेतुक नहीं है। जो साक्षात हेतु है वह है अदृष्ट। ऐसा होते हुए भी किसी द्रव्यका परिणमन किसी भी अन्य द्रव्यमे नही गया।

हमारा प्रभु, हमारा मालिक हममे गुप्त है, सुरक्षित है, किन्तु तिरोभूत है। हमारे प्रभु का प्रकट हो जाना, व्यक्त हो जाना ही परमात्मतत्त्व घट घटमे बसता है, जो अघट है उसमे नही बसता अघट अजीव द्रव्य हैं।

हमारा प्रभु परिपूर्ण है, इसमे कोई शक्तिकम हो और कहींसे लाकर डालनी हो ऐसा नहीं है। ज्ञानी कारीगरने प्रभुको देख लिया अब प्रभुके व्यक्त करनेके यत्नमे है। वह तो स्वय निष्पन्न है उसमे अन्य कुछ क्या किया जावे। कर्तव्य मात्र इतना है कि उसके आवरक जो दर्शन मोह है उनको हटाया जावे।

दर्शन मोह अब भावरूप है। उन दर्शन मोहके हटानेका उपाय भी भावरूप ही कोई हो सकता है वह है भेद विज्ञान! इसका अपरनाम है प्रज्ञा!

प्रज्ञा छैनीसे चैतन्य प्रभु याने चैतन्यभावरूप और विषय कषाय रूप आवरण इनके अन्तर को समझे। फिर इसी प्रज्ञाके-बलपर अभेद प्रज्ञाके द्वारा आवरण के उपयोगसे हट कर मात्र निर्भेद चेतना मात्र वस्तुका आश्रय करे।

उक्त आत्मीय साधनान्तरनिरपेक्ष उपायसे हमारा प्रभु, हमारा मालिक प्रकट होकर अनत ज्ञान व अनन्त आनन्द आदि समृद्धिसे युक्त होकर सहा वीलास करेगा मैं उपयोग परीणमन भी ऐसा ही विलसित होऊगा। ॐ तत् सत्

२२ जौलाई १९५८

जिस किसी भी वस्तुको देखकर या सुनकर या अन्य किसी प्रकार समझ कर उसके प्रति राग हो जाना या द्वेष हो जाना बस यही तो अधर्म है। ज्ञान या आत्मा जानन स्वरूप हे, वह कभी नहीं मिटेगा। सो जानना तो बना ही रहेगा। उससे दूर तो हो नही सकते। जानना आत्माका घातक नही क्योकि वह स्वभाव वृत्ति है। बस जानना ही जानना शुद्ध बना रहो उसमे राग द्वेष को अशुद्धता शामिल न होवे। यही धर्म है।

विकल्प होते है और उनके वशमे भी आ जाते है। सो इसके लिये क्या करे। प्रिय आत्मन्! इतना तो तुम तब भी कर सकते हो। कि इस विकल्प को भी समझो यह औपाधिक है, कर्मविपाक है, मेरे हितके लिये नही आया, मैं तो इसकी निवृत्तिमे ही आनन्द पा सकूंगा।

हे सदभाव! हे स्वभाव! हे परमभाव! हे निरपेक्ष प्राण! ज्ञानपथ गामी रहो। मुझ पर सवार हुए आक्रमण तेरी दृष्टिसे ही विफल हो सकते! अन्य उपयोगमे ऐसी सामर्थ्य ही नही।

सोऽह, सोऽह, सोऽह, सोऽह, सोऽह, सोऽह, सोऽह। जो परमात्मा है सो मैं हू, जो परमात्मा है सो मैं हूं। मैं परमात्माकी जातिका हूं। मुझमे विकारो का क्या काम।

विकारो हटो, हटो, ऐसे हटो कि अब दुबारा नही आना। विकार औपाधिक है, कुछ उनकी जड तो यहा है नही। विकारो हटो विकल्पो

हटो अब तो सदा स्वच्छ ही रहूँ उपाधि से लगनेका कोई प्रयोजन नही।

२३ जौलाई १६५८

जगतकी वेल राग द्वेष है और उसकी जड मोह है। यह वेल इतनी लम्बी चोडी फैली हुई है कि सर्वत्र यही नजर आरहा है, जिसे नजर आता है उसपर भी फैली हे। ज्ञाता इससे परे है।

जिसने तत्वज्ञानमे उपयोग किया उसके लिये तो यह जगत नही दिखता व नही रहता।

शान्ति पथ मे बढते हुए मानव को वाहरमे तो बाधा कुछ भी नही है। व्यर्थ ही उलटी चाल चलकर वाधित हो जाता है यह।

प्रिय आत्मन्! करना क्या है तुझे यहा तो स्पष्ट स्पष्ट तो कह दे। मकान वना वनाकर तू जायगा मरकर जिस जगह वहा इस मकानका कोई कंकड भी तुझे मिलेगा। इस अल्प जीवनको मकान विषयक उपयोगमे रहकर वरवाद हो रहे हो, रही सही वरवादी अगले जन्म मे करोगे और अत्यन्त वरवाद रहकर जन्म मरण करते रहोगे। ऐसी ही वात अन्य अन्य वातोकी भी समझना।

अब और कुछ वतानेको हो तो और वता अच्छा विकल्प करते रहना तुमने अपना ध्येय वनाया कि निर्विकल्प होना, तुमने अपना ध्येय वनाया? वाह्य पदार्थका परिणाम तो तुम कुछ भी कर सकते नही हो सो उस विषयका तो कोई प्रश्न हे ही नही। विकल्प करते रहनेकी वात तो तुम्हारी तुममे हैं उससे तो न प्रशसा है न कीर्ति है, तुम ही भ्रमसे कोई पुल वाधलो तो उसपर सचाई की गाडी तो नही ठहर जावेगी। निर्विकल्प रहनेका ध्येय हो तो उसका मार्ग तो निवृत्ति है। अन्तरङ्गसे परसे निवृत्त हो लो।

२४ जौलाई १६५८

जिसे कोई पाप नही करना है उसे मायाचार की आवश्यकता क्या? पाप की आवश्यकता क्या? पाप करके जिसे लोकोमे अपनेको भला नही जचाना है

उसे भी मायाचारवहुलताकी आवश्यकता क्या । हा पाप करनेवाला आन्तरिक मायाचार अनन्तानुवन्धी कर रहा है जो अतीव कटुक परिणाम (फल) देने वाला है ।

अज्ञानमे अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ होते ही है । निजको आनन्द पथमे न ले जाकर जन्म मरणके चक्करमे लगाये रहना क्या कम क्रोध करना है । अपने मधुर आनन्दमय सहज चैतन्यस्वभावको भूल जाना और क्षणिक औपाधिक परिणतियोमे, असार पुद्गल स्कन्धोपर इतराना क्या अनन्तानुवन्धी मान नही है । अपनी सरल वर्तनासे विमुख होकर कुटिल विकल्प चक्रमे उलझे रहना क्या अनन्तानुवन्धी माया नही है । अपने असङ्ग शुद्ध स्वभावसे विपरीत एव लेशमात्र भी सम्बन्धसे रहित पुद्गल स्कन्धोके सग्रहकी प्रवल इच्छा होना अथवा औपाधिक भावोकी रति होना क्या अनन्तानुवन्धी लोभ नही है । ऐसे अज्ञानकी ही यह महिमा है कि जीवका व पुद्गल कर्मका वन्ध चला आ रहा है ।

सब अपने अपने परिणमनसे परिणमते है । मुझपर किसीका भी भार नही । एक क्षणको भी एक भी विकल्प मत आवो । सर्वत्र विकल्प असार है । किसीके विकल्पके अनुसार जड पदार्थ परिणमता हुआ मिल गया तो तेरे स्वरूपमे क्या वृद्धि हुई और यदि विकल्पके अनुसार परिणमता हुआ न मिला तो तेरा क्या गिर गया । तू तो अनाद्यनन्त निज शक्तियो से परिपूर्ण है ।

२५ जौलाई १९५८

अत्यन्त प्रयोजनीभूत बातें ये है, इनसे विचलित नही होना चाहिये मुमुक्षु आत्माओ —

(१) प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपास्तित्वको लिये हुये परस्पर अत्यन्त पृथक् है ।

(२) प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाव है अतः प्रत्येक द्रव्य स्वयं ध्रुव

पर्यायमे प्रकट होता है, पूर्व पर्यायको विलीन करता है और सर्व पर्यायोमे वही अवस्थित रहता है।

(३) प्रत्येक पदार्थका परिणमन परनिरपेक्ष है, केवल यदि परिणमनमे कोई विशिष्टता हो तो मात्र विशिष्टता औपाधिक है। कालद्रव्य उदासीन निमित्त है उसकी यहा विवक्षा नही है।

(४) किसी भी पदार्थका गुण, पर्याय, करतूत, प्रभाव, असर इत्यादि उस पदार्थके स्वरूपास्तित्वसे बाहर नहीं हो सकता, अतएव कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका न तो स्वामी है और न कर्ता है।

(५) परिणमनविशिष्टता उपाधिका निमित्त पाये बिना नही होती अत वह विशिष्टता द्रव्यका लक्षण नही है। द्रव्यका लक्षण तो उत्पाद व्यय, ध्रौव्य है। परिणमनकी अविशिष्टता स्वभावके अनुरूप है, अत वह कथचित् लक्षण है।

(६) उक्त सब बाते निज आत्मामे भी घटित करना चाहिये और विशेष यह जानना चाहिये कि परिणाम विशेष आस्रव बन्धका कारण है, परिणामकी अविशिष्टता सवर, निर्जराका कारण है। आस्रव, बन्धसे ससार है और सवर निर्जरासे मोक्ष है।

(७) अविशेष परिणामका कारण स्वभावावलम्बन है, परिणाम विशेषका कारण परकी दृष्टि अथवा उपाधि है।

२६ जौलाई १९५८

रे आत्मन् जिस शरीरमे तू है उस शरीरमे राज्य मत कर। यह शरीर तेरा नही है, तेरे साथ जायगा नही। यह तेरा हित तो कुछ करता नही उल्टा अहित व क्लेशका ही कारण बनता है।

शरीर क्या है तेरा कुछ नही। अन्य पुद्गल स्कन्ध क्या है तेरे ? कुछ नही। तुझे तो ये सब काक बीटकी तरह अनुपयोगी है। तेरा क्या है ? राग द्वेष। नही, ये औपाधिक है और अनित्य है, मैं नित्य हूँ, स्वत सिद्ध हू। तेरा क्या है ?

निर्मल परिणाम ? नही, क्योकि निर्मल परिणाम भी क्षणिक हूँ, मैं ध्रुव हूँ। तेरा क्या है ? चैतन्य स्वभाव ! हाँ, क्योकि अनाद्यनन्त इस ही स्वभावमय मैं हूँ इस स्वभावमयका मै क्या करू यह अनादिसे है रहो परन्तु व्याकुलता तो चल रही है उससे नफा क्या ? लाभकी वात तो वतावो।

लाभ तो निर्मल परिणाममे है क्योकि उसमे अनाकुल परिणमन है। फिर उसको मना क्यो किया कि वह तेरा नही है। मना तो इसलिये किया कि तू तो अनाद्यनन्त है और ये क्षण क्षणके परिणमन है।

यह निर्मल परिणाम कैसे प्रकट हो। निर्मल परिणाम निर्मल परिणाम। जो तू सहज अनाद्यनन्त है याने चैतन्यस्वभावमय है इस ध्रुवतत्वकी दृष्टि कर, आश्रयकर, उपासना कर, इसमे अभेदोपयोगी रहतो।

हे आत्मन् ! ज्ञानशक्तिका कुछ सही विकास पाया है तो अपने हितकी वृत्ति झट कर। अपने हितकी वातमे प्रमाद न कर। तेरा अन्य कोई सहाय नही। स्वभावावलम्वनमे स्वतन्त्र होनेसे तू ही तेरा सहाय है।

२७ जौलाई१९५८

दु:ख वनावटी है, सुख भी वनावटी है, आनन्द वनावटी नही है, वह सहज और अनैमित्तिक है। दु:ख पराश्रित है, सुख भी पराश्रित है, आनन्द पराश्रित नही है, वह मात्र स्वाश्रित है। दु:ख के वाद दु:ख के विरुद्ध परिणमन होता है, सुखके वाद सुखके विरुद्ध परिणमन होता है, सर्वत सही आनन्दके प्रकट होनेके वाद आनन्दके विरुद्ध परिणमन नही होता। दुःखका साधन पुद्गल है, सुखका साधन पुद्गल है, आनन्दका साधन पुद्गल नही है। दु:खका निमित्त पुद्गल है, सुखका निमित्त पुद्गल है, आनदका निमित्त पुद्गल नही है दु:ख कर्मफल है,। सुख कर्मफल है, आनद कर्म फल नही है। दु:ख कर्मवीज है, सुख कर्मवीज है, आनन्द कर्मवीज नही है। दु:ख अशुद्ध परिणमन है, सुख अशुद्ध परिणमन है, आनन्द अशुद्ध परिणमन नही है। दु:ख रागमूलक है, सुख रागमूलक है, आनन्द रागमूलक नही है। दु:ख स्वभावविरुद्ध है, सुख स्वभावविरुद्ध है, आनन्द स्वभावविरुद्ध नही है। दु:ख विकल्प है। सुख विकल्प है, आनन्द विकल्प नही है। दु:ख इन्द्रियज है,

सुख इन्द्रियज है, आनन्द इन्द्रियज नहीं है। दुःख विकार है, सुख विकार है, आनन्द विकार नही है। दुःख काल्पनिक है, सुख काल्पनिक है, आनन्द काल्पनिक नही है। दुःख आकुलतामय है, सुख आकुलतामय है, आनन्द आकुलतामय नही है। दुःख शिवपथ नही, सुख शिवपथ नही, आनन्द शिवपथ है।

हे आनन्द ! तेरे ही प्रसादसे कर्मेन्धन जलते है।

हे आनन्द ! तेरे ही प्रसादसे स्वानुभवकी प्रतिष्ठा है।

हे आनन्द ! तुमसे ही मोक्षमार्गका प्रारम्भ है तुमसे ही मोक्षमार्गकी पूर्ति है।

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय।

२८ जौलाई १९५८

पर पदार्थका क्या वन्धन है, वन्धन तो रागका है। जिसका किसी पदार्थ विषयक राग होता है तो असलमें वधा तो वह है रागसे किन्तु उस रागसे बन्धनेमे काम यह करना पडता है कि उस पदार्थकी रक्षा व पुष्टिके लिये तन मन वचनके विकल्प करे, यत्न करे।

मोह तेरी शान भी निराली है, क्यो न हो। आखिर इस चैतन्य प्रभुमे कुछ भी तो हो, यह वेशानीसे रहेगा कैसे ? मोहमे ऐसी क्रियाये, करतूत होती हैं कि जिन्हे मोह बिना किया ही नही जा सकता है अथवा उन लीलावोको मोह-रहित वेचारा आत्मा कर ही नही सकता।

तत्त्व ज्ञान तेरी शान भी निराली है, क्यो न हो। वह तो आखिर चैतन्य-प्रभुका सहज चमत्कार है। तत्त्वज्ञानकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि तत्त्वज्ञानके होनेपर मोहका तो पता नही रहता, आमक प्रकृतिया चाहे चिरसचित भी हो ध्वस्त हो जाती है। तत्त्वज्ञानी तो कृतकृत्य है।

मोह व तत्त्वज्ञानका स्रोत तो एक ही वस्तु है तथापि सोपाधि, निरुपाधिका अन्तर है। मोह सोपाधि है, तत्त्वज्ञान निरुपाधि है। सोपाधिभाव परभाव है, निरुपाधिभाव स्वभाव है।

हे आत्मन् जिस मोहको छोडा वह अब कभी भी न आवे। मोहमे व्यर्थकी व्याकुलता है। हम देख तो रहे है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नही तथापि मोहमे जीव परको लक्ष्य कर कैसे आकम्पित हो रहे हैं और संक्लिष्ट होरहे है फिर भी सुख मानते हैं। मोह! अब न आना।

२६ जौलाई १६५८

चरणानु योगकी प्रक्रिया है कि जो सक्लेशका कारण हो उस पदार्थका त्याग करे। संक्लेशका साधन जुटाकर सक्लेश बढ़ाकर सुख मानना इससे बढकर अज्ञान क्या होता है।

ज्ञानोपयोगका विशेष साधन करना उत्तम कर्तव्य है। इसमे समय बिताने वालेको पछताना नही पडता है। तत्त्वज्ञान ही आत्माका रक्षक है। जीव मात्र निजभावका कर्ता है और निजभावका भोक्ता है। वस्तुके स्वरूपास्तित्वकी सीमा का उल्लंघन कभी नही होता।

जगतको असार जानकर चित्त को भगवद्भक्ति व तत्त्वज्ञानमे लगाना ही एक कार्य रह गया है करनेको अन्य तो सब अकार्य सिद्ध हुए।

आकुलता तो जीव उल्टी धारणा कर बनाये रहते है। वस्तुत आकुलताका कोई प्रयोजन ही नही। वस्तु स्वरूप यथार्थ जानकर निराकुल रहना ही बड़प्पन है।

मनको जीतकर आत्मोपयोगी कार्यमे उपयुक्त होकर नर जन्मको सफल करना यही एक सत्य व्यवसाय है।

जैन शासन एक सार वस्तु शासन है। इसे सौभाग्यसे पाया तो इन्द्रियविजय, कषाय विजय, तत्त्वज्ञान आदि कर्तव्योसे इस दुर्लभ नर जन्मका लाभ उठाना विवेक है।

जिनके समागमसे अपने ज्ञान और शान्तिमे बाधा आवे उनसे विरक्त रहना और आत्मतत्त्वकी रुचि करके आत्मज्योति प्रकट करना यह महान् पुरुषार्थ है।

जिनेन्द्र देवकी भक्ति समस्त पुण्यकार्योमे प्रधान कार्य है। अभेद चैतन्यमात्र

निजतत्त्वकी उपासना धर्मपालनो मे एक ही अनुपम मार्ग है।

३० जौलाई १९५८

अपने आपके आत्माके एकत्वका विशेष अनुभव, स्मरण होता रहना कल्याण की प्रगतिका मूल है, चिन्ह है, प्रयोग है।

सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपास्तित्वमे है। कोई पदार्थ अपनी इस सीमाको नही तोड सकता। आत्मा भी अपनी सीमाको तोडता नही, वह या तो अन्य विषयक विकल्प कर सकता या ज्ञाता मात्र रह सकता। विकल्पसे लाभ नही, ज्ञातृत्व स्वय लाभ है।

जीवनकी सफलता तत्त्वज्ञान और शान्तिसे है। आप आप स्वय अपने आपका जुम्मेदार है। किसीका अन्य कोई कुछ नही होता।

जीवके साथ कर्मबन्धन चल रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय कर लेना सबसे बडा उत्तम उद्योग है।

"यह जीवन किस लिये है, जीवन कितना बीत गया, अब क्या पा रहे हैं, अब क्या करना उत्तम है" इन बातोपर गम्भीरतासे ध्यान देना है, जो मनने हुक्म दिया उसके ही वश होकर परकी दासता करना आकुलतासे मुक्त नहीं कर देगा।

शारीरिक अधिक कोमलता व आरामसे समय बितानेमे लाभ नही। कठोर श्रमके बलपर भी तत्त्वज्ञान व सयमकी साधना करना है। जिन्होने ऐसा किया वे दु खसे मुक्त हो गये।

अब धार्मिक विशेष क्रान्ति लाना, धर्ममे प्रगति करना, रूढ ढचरोसे मुक्त होना जीवनका अपूर्व कदम होगा। ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

३१ जौलाई १९५८

अधिक बोलना आत्माके हितमे बाधक है। अव्वल ले जितना प्रायोजनिक भी बोला जावे वह भी बाधक है।

अब इस प्रकार बोल सकनेके अलावा बाकी मौन रहेगा यह प्रक्रिया रक्षा-वन्धन तक रहेगी बादमे कुछ परिवर्तन

प्रात ७॥ से ६।—१। घटा

दुपहर २॥। से ५॥ पठन पाठनके अर्थ

साय ८॥ से ६।—॥। घटा

दुपहर ११ से ११॥ सामाजिक वार्तालापके अर्थ ॥ घटा

विशेषप्रयोजन धार्मिक हो तो अपनी इच्छापर ॥ घटा

जहा जो कुछ वीतती हो वीतने दो, तुम मोक्षमार्गसे च्युत मत होओ । प्रत्येक आत्मा प्रत्येक अणु स्वतत्र स्वतत्र है.। किसीका किसी अन्यके साथ स्वामित्व नही है । इस मायावी दुनियामे किसी भी परिग्रहका सग्रह करके आत्मा को लाभ क्या होना है । जितने जिन्दा हैं इतने भी किसीके द्वारा पर्याय प्रशसा सुन लेनेसे आत्माका हित क्या होना है ।

जगतमे कुछ भी सार नही है । कुछ भी वात यहाँकी ऐसी नही है जिसपर इतराया जावे । इतराने वाले लोग, गर्वमे मस्त रहने वाले लोग, इज्जतका पाणिग्रहण करने वाले लोग अन्तमे पछतावेंगे या पछता सकने योग्य भी न रहेगे।

दूसरे हमसे कुछ अच्छे है ऐसा देखकर ईर्ष्या करना और हम अनेकोसे वढे चढे है ऐसा देखकर गर्व करना दोनो पतनके रूप है । इसमेसे घट वढ आदि कुछ भी न देखकर चेतन्य प्रभुके स्वरूप पर दृष्टि बनाये रहना उत्थानके अमोघ रूप है ।

१ अगस्त १९५८

शरीरकी नियमित समयपर सेवा कर देना और फिर इसकी सेवामे न रहकर सारे समय आत्मकार्य मे स्वाध्याय, चर्चा, पाठन, सामायिक, सेवा द्वारा लगे रहना । यह ही वर्तमास्थितिमे कर्तव्य है ।

यह मैं आत्मा आनन्दका पुञ्ज है किन्तु वाह्य पदार्थो को विषय बनाकर विकल्प किया करता हुँ तो यह खुद ही क्लेश की अग्निमे गिरनेकी बात है । यदि परविषयक विकल्प न किया करू तो सर्व कुछ समृद्धि है ही ।

इस विकल्पवृत्तिपर सभी हेरान है और अनेको विरल पुरुष कहते हैं कि विकल्पको छोडकर झटिति निर्विकल्प बनना चाहिये तथा अनेको पुरुष यत्न करना चाहते हैं कि वे झटिति विकल्पोको छोडकर निर्विकल्प बन जावे। परन्तु हो नहीं पाता है ऐसा। यह कितनी हैरान है और क्या हैरानी है ?

पर द्रव्यका छोडना अन्तरङ्गमे आजाय तो सुगम ही है। क्या होगा, न मानी अपनी इज्जत, है कहाँ इज्जत ? परद्रव्यके विकल्पसे शून्य होकर स्वच्छ अन्तर्ज्योतिर्मय वृत्ति रहना वास्तविक इज्जत है जिससे नरक, तिर्यञ्चादिक निम्न दशाये नही हो पाती और होलेता है उत्कृष्टविकास।

यहाके किसी पदार्थ मे प्रीति मत जोड। जीवपरिणाम और कर्मबन्धका निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध प्राकृतिक है। यदि रागकिया, द्वेष किया तो उसी क्षण उसी अनुरूप कर्मबन्ध हो जावेगा। कर्मबन्ध ही महती आपत्ति है। बद्ध कर्मके उदय कालमे फिर तू विभावपरिणाम करेगा फिर कर्मबन्ध होगा। अरे कभी तो छुटना होगा इस चक्करसे। अपने स्वभाव को देख फिर चक्कर छुट ही जावेगा।

२ अगस्त १९५८

रे आत्मन् ! तेरेमे कितने ऐब है उसकी ओर तो देख।

(१) किसी से रच भी ईर्ष्या न जागे ऐसी चित्तवृत्ति बना। देख तुझे भी सिद्ध होना है औरोको भी सिद्ध होना है।

(२) असार एव असत्य लौकिक पर्याय गुणानुवादको सुन कर रच भी उस ओर उपयोग न दे। देख यदि क्षोभ होता है तो वह अवनतिकी ही तो भूमिका है और जहा अवनति है या उन्नति नही है वहाँ भलाईकी बात ही क्या।

(३) सस्थाकीय कार्य आदि द्वारा नाम करनेका विकल्प तथा एतदर्थ किये जाने वाले उद्योग दोनोसे रुचि हटा। देख तू तो निर्नाम है ! मायारूप नाम किसका चलकर रहा।

नक्शेमे यदि मम्य अवगुणोका बखान किया जावे तो वह यह त्रमूर्ति है — (१) ईर्ष्या, (२) निज प्रशसारुचि और (३) नामवरीकी चाह और

उसके लिये उद्योग।

हे आत्मन्! तू दूर न रह। मैं उपयोग हेरान हो चुका हूँ अनेक विकारोमे फस फस कर। अब तू प्रकट हो मेरे पथमे आ और भावासनपर स्थायी विश्राम कर।

हे परमशुद्ध परमपारिणामिक भाव! तुम होतो अनादि से ही रक्षक किन्तु तेरी सामर्थ्यका इस उपयोगने लाभ नही उठाया।

ऐसा विशिष्ट मन पाकर इसे यदि निरपेक्ष आत्मस्वरूप की दृष्टिमे नही लगाया तो हे प्रिय! फिर कव तक भटकते रहना तुम्हे पसन्द है, कुछ वतावो तो। सत्य आनन्द तो कटु लगे और आकुलताये मधुर लगे यह वावलापन ही क्या तुझे रूचता है।

३ अगस्त १६५८

हे चैतन्यमूर्ति! तू स्वच्छ है, शुद्ध है। निर्लेप है। तेरी अनुपम सहज किरण जिसके उपयोगमे आवे वह कृतकृत्य हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है।

जगत मे सव कुछ अनेक वातें हैं। उनका हम क्या करे। दु ख तो निर्विकल्प भावसे मिटेगा। सो हे परमस्वभाव! इस भावमे विराजमान रहो।

हे जगन्मूर्ति, तू अस्वच्छ है। अशुद्ध है, अनेक द्रव्योसे लेपित है। तेरी अभिरूचि जिसके उपयोगमे आवे वह विकल्प वहुल हो जाता है, वेकार होजाता है।

मोहीकी आत्मामे भी सहज स्वभाव 'नित्य अन्त' प्रकाशमान है, अनादि अनन्त है किन्तु उसका मोही क्या करे। मोहका कुल तो पर्यायवुद्धिसे ही वढेगा। सो हे भव मूर्ति! जिसे अज्ञान ही सुहाता है ऐसे मोहीके उपयोगमे विलास करो और ज्ञानियोका तो पिण्ड छोडो।

हे भवविहीन, भाग्यहीन अनुपमगुणाकर! तेरी स्वच्छ ज्योतिकी जो भक्ति करता है वह भक्ति भी निकटभविष्यमे भवविहीन, भाग्यहीन व अनुपम गुणाकर हो जाता है।

इस मायामय दुनियामे कोई अपनी करतूत दिखाना चाहे तो उसे भी मायारूप नाटक न कहा जावे तो क्या परमार्थ शुद्ध तत्त्व कहा जावे।

ॐ नम सिद्धाय। ॐ नम सहजसिद्धाय।

ॐ तत्सत्। ॐ शुद्ध चिदस्मि

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

४ अगस्त १९५८

भ्रमके पर्देके भीतर विज्ञानघन शुद्ध चेतन पात्र स्थित है इन उपयोगरूप दर्शको को यह तव तो दिखे जव भ्रमका पर्दा हटा लिया जावे। भ्रमका पर्दा अन्त विवेक ही हटावेगा।

यह भ्रमका पर्दा हटा कि शुद्धाङ्ग, सर्वाङ्ग, नियताङ्ग, अनाङ्ग, अभङ्ग, चङ्ग चेतन प्रभुके दर्शन होगे। जिसके दर्शनके परिणाम स्वरूप सहज उठे आनन्दरससे निर्भर शान्तरससे जितने दर्शन है मग्न होगे और कृतकृत्य होगे।

जिन्होने एक वार भी उस परमात्रके दर्शन किये हैं वे अन्य रागादिके पर्देके भीतर भी निरावरण नित्य उदित उस ज्योतिका, उस तेजके विशद स्मरण करते रहते है और निर्विकल्प आनन्द पानेकी धुनमे साक्षात् दर्शन करने को उत्सुक वने रहते हैं। यह परमापात्र दर्शनोत्सुकोकी रूचि होनेपर अवश्यही शीघ्र दर्शन देता है।

धन्य है इस परमज्योतिर्मय प्रभुको। हे नाथ! भक्तोका उद्धार करो। तुम भक्त, अभक्त सभीके पास रहते हो। अभक्त आपकी उपेक्षा कर समृद्धिसे वञ्चित रहते हैं। भक्त आपकी उपासना कर समृद्धिसे समृद्ध होते हैं।

हे कारण प्रभो! तुम्हारी महिमा अचिन्त्य है। तुम निराकार हो फिर भी तुमसे निराकारता भी विलसित होती है और साकारता भी विलसित होती है। तुम विश्वाकार वनकर भी सतत निराकार रहते हो।

कारण प्रभो! तेरी लीला निराली है! तेरे ही कुछ प्रसादसे पाये हुए वडप्पनसे शोभित महापुरुषोकी लीलाका व्याख्यान तेरी ही लीलाका किसीरूप मे व्याख्यान है।

हे चेतन्य प्रभो ! जयवंत हो हु। तेरे ही प्रसादसे शाश्वत आनन्द का विलास है। ॐ तत् सत्। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

५ अगस्त १९५८

मैं हू और प्रतिसमय वह मैं अपूर्व अपूर्व एक-एक दशामे रहता हूँ। वह दशा कैसी हुई व कैसी होगी इसमे एक वैज्ञानिक खोज है जिसके आधारपर यह सिद्ध हुआकि यह जाननवृत्तिसे परिणमनका स्वभाव वाला आत्मा जब मात्र अभेद स्वभावी निजको या विकल्प न करके परको जानता है तब तो इसकी निराकुल परिणतिकी दशा होती है किन्तु जब यह इस्ट अनिष्ट बुद्धि सहित परको जानता है तब इसकी व्याकुल परिणतिकी दशा होती है।

इस तथ्यसे परिचित ज्ञानी जीव इसी कारण बाह्य पदार्थोंमें रसिक नही होते और आत्मामे ही ठहरकर शुद्ध परिणति, शान्ती परिणति पावे एत्दर्थं ही ज्ञानात्मक यत्न करते है।

हे अविचल स्वभाव ! तेरी उपेक्षा करने वाले विचलसे हुए फिरते हैं और तेरी उपासना करनेवाले अविचल रहते है।

जिनका तेज भौतिक तेजसे निराला है, जिसकी महिमा भौतिक उत्कृष्ट वैभवसे अनवधि उत्कृष्ट है उस परम ज्योतिर्मय चैतन्य प्रभुकी उपासना सर्वार्थ-सिद्धिकारिणी है।

यदि अलौकिक आनन्द चाहते हो तो लौकिक सुखका व्यामोह छोडो और यदि लौकिक सुख चाहते हो तो गारन्टी तो इसकी है नहीकि सुख मिले या दु:ख फिर भी लौकिक सुख [illegible] उपाय है यह कि चैतन्यघन निज आत्मतत्त्वसे [illegible] रहो और [illegible] सबके [illegible] सहते रहो। अब जरा अहोगुरुना ! [illegible], जो चाहिये हो उनके उपायमे लगो।

६ अगस्त १९५८

[illegible] सपरिवार यहा दर्शायोगमे ठहरे हुए है। [illegible] है। किसी भी प्रकारकी सेवा [illegible] वस्तुये लेने मे

इनको सकोच रहता हे। स्वय ही अपनी सारी व्यवस्थाओके करनेमे सतुष्ट रहते हैं। अध्यात्मरुचि विशेप है इनको।

वड़ी हैरानीकी वात है कि मनुष्य होकर, श्रेष्ठ मनवाला होकर, जिन शाशनका अनुपम लाभ पाकर भी आहारादि सज्ञावोके वश होकर गफलतमे जीवन गमा दिया जाता है।

किसी भी पदार्थसे ममत्व न रखना ही उन्नतिका वीज है। यह कैसे हो इसका उपाय पदार्थका यथार्थ स्वरूप जान लेना हे। पदार्थ सव स्वतन्त्र स्वरुपास्तित्वको लिये हुए है। किसीका किसी अन्य पदार्थसे सम्वन्ध नही।

अनुदारता क्यो प्रकट हो, क्या मैं किसीका सुधारक, अवनायक या पालक आदि हू ? नही, किसीका पुण्योदय है वह उस पुण्यके परिणाममे सुख पाता है और सुख भी क्या है ? जड पदार्थोमे उसने रति करली और रखा ही क्या है ?

सर्वे सुखिन सन्तु, निरामया सन्तु, शिवपथ विहारिण सन्तु।

ससारवन महाभीम है। अज्ञान ही तो ससार है। अज्ञान मे हित सूझेगा कैसे ? सो ससार महाभीम ही तो है। लेकिन अज्ञानमे नही सूझता है तो न सूझो, ज्ञानमे तो सूझ जावेगा। ज्ञान भी परिणित हे, मुश्किल क्या हे ? केवल है चैतन्य प्रभो! असतोमा सद्गमय।

७ अगस्त १९५८

यह आत्मा कैसा आधार है विकल्प भी दमादम चले आ रहे हैं। क्यो आते है ? कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है ? आत्मक्षेत्र मे और किन किन जडो का अवगाह है ? महर्पियो ने खोलकर वताया है। खोजने, समझने, जानने, अनुभव करने वालो ने कितना वल व प्रयोग किया है ? उस वल और उस प्रयोग का जिन्हे अनुमान भी नही है उनको तत्त्वमर्म मे पहुचना अथवा उसकी प्रतीति करना कैसे सुगम हो सकता है ?

हे निरपेक्ष स्वभाव! तुम विदित हो, तिरस्कृत हो नादानी भरी वर्तमान

परिणति के कारण । किन्तु, बतावो तो सही, छुपे छुपे सकेत मे ही तो कह दो, पर्याय मे वह वल कैसे आवेगा तेरे प्रसाद बिना ।

मै निरन्तर परिणमता हूँ, परिणमता हूँ, अपनी परिणति से। जो कर पाता हू वह भावरूप है । पर द्रव्य की पर्यायमे न तो परिणमता हूँ, न उत्पन्न होता हूँ और न उन्हे ग्रहण करता हू फिर परके साथ सम्बन्ध क्या रहा ? विकल्पमे नफा क्या ? यहा किस वातसे मेरा क्या रह जायगा अथवा हो जायगा ।

मोहकी लीला विचित्र है, जहा जीव जाता है वहाके समागम मे रम जाता है, विकल्पक हो जाता है । वहासे अन्यत्र की वस्तुयें भी तो है उनका पता नही ।

देख प्रियतम ! यदि अन्य किसी भवमे या तुच्छ भव में होते तो यहा का ठाठ तुम्हारे लिये क्या था ? यदि कुछ मिला है तो न मिला जानकर आत्मपथ मे लग जावो ।

८ अगस्त १९५८

धर्म नियमसे तत्काल शान्ति व आनन्द उत्पन्न करता है, इसम रच भी सन्देह नही । समस्त विकल्प जालो से उन्मुक्त होकर स्वके सहज परिणमन होने को धर्म कहते हैं । इसके विपरीत याने पर पदार्थविषयक उपयोग बनाकर विकल्प करके अधर्मपरिणति की जावे और उस समय यदि बहुतसा पुद्गल इकट्ठा भी हो जाय जिसे कि लोक वैभव कहता है तो भी क्या सिद्धि हुई ? रहा तो ससार का क्लेश ही क्लेश और साथ ही जन्म मरण की परम्परा का साधन ।

समस्त पदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त जुदे है । किसी भी पदार्थसे किसी अन्य पदार्थ का परिणमन नही होता । प्रत्येक मे द्रव्यत्व गुण स्वत है, अनादि अनन्त हैं । इस द्रव्यत्व गुणके कारण द्रव्य एक समयको भी नवीन परिणति बिना रहता ही नही ।

मै भी एक सत् हूँ, मै भी निरन्तर परिणमता रहता हूँ । तब मेरा कौन

परिणमाने वाला है अतएव च मेरा कौन स्वामी है। लोको को ऐसा वता दू अथवा लोगोके वीच ऐसी चीज रखदू अथवा लोगोमे यह नाम जाहिर हो जावे, इस नाम की चीज पुष्ट और चिरस्थायी हो जावे आदि विकल्प मिथ्या है, पूरी वेवकूफीसे भरे हुए ह।

आत्मस्वय आनन्दमय है, सहज आनदमय है। इस मेरे के आरामको आनन्द को किसी भी परमाणमात्र परवस्तुकी जरूरत नही है। वल्कि परका सम्बन्ध उपयोग आराम व आनन्दमे वाधक हो रहा ह उससे तो निवृत्त ही हो लेवे और प्रत्येक प्रकार के विकल्पसे पृथक् हो लेवे।

६ अगस्त १९५८

परविपयक व्यवस्थामे लगे रहे तव जीवन का सदुपयोग क्या रहा अभी भी तो देखो और विचारो अनेक स्थलो पर अनेक आत्मरसिक मुनि, क्षुल्लक त्यागी जन एकान्त स्थानमे वसकर कैसी आत्मसाधना कर रहे होगे। स्वय भी तो करो।

जितना अधिक वोलना रहेगा उतनी ही व्याकुलताका साधन वनेगा। मौन मे अधिक से अधिक समय वितावो।

शान्ति पाना तुम्हारे ही हाथ है। जव जव अशाति हो तो सोचो कि अमुक पदार्थसम्वन्धी राग हे सो इसीकी अशाँति ह। उस रागको भेदविज्ञानके वल से दूर करो और सुखी होओ।

समय समयपर उत्पन्न होकर नष्ट होते चले जाने वाले इन दृश्य व भोग्य भावो मे रति करना न्याय नही है।

मेरा पहिचानने वाला यहा प्राय कोई नही है जो मुझे पहिचानते हैं उनके लिये मैं कुछ विशिष्ट भी नही हूँ। सामान्यके खाते मे खताये जानेसे मेरा कोई ऐसा व्यक्तित्व ही नही रहा जिससे कि पहिचाननेका ऐहिक प्रयोजन भी सिद्ध हो सके।

मैं भी यदि वास्तवमे अन्य चेतनोको पहिचान लू तो मैं भी उसी अलौकिक लोकमे हूँ।

सत्यता तो यह है कि यथार्थ इस पहिचानसे जो मूड (Mood) बनता है वह उत्तरोत्तर स्वस्थिरता बढाकर अन्तमे उत्कृष्ट शाति उत्पन्न करा देता है।

ऐहिक लाभ तो कल्पित लाभ है, भ्रमसे माना हुआ लाभ है। भ्रमका फल तो कष्ट ही है। सुहावने जचने वाले इन स्कधोमे विश्वास मत करो। इनसे तो दूर ही रहना श्रेष्ठ है।

१० अगस्त १६५८

मैं किस लिये मनुष्यरूपमे प्रकट होकर समय बिता रहा हू। कल्पनाओके जालसे इस अमूर्त आत्माको क्या लाभ होगा ? यहा क्या सार है ? कौनसा चेतन अथवा अचेतन परिग्रह मेरा परलोकमे व इस लोकमे साथी है।

कितने ही लोगोको बडी दुखित अवस्थामे पाते हुए देखा गया है। कितने ही धनिक व वैभववालोको भी अति रुग्ण अवस्थामे देखा गया है। अनेको घटनाये सुननेमे आती है अमुकके पैर हाथ गल गलकर प्राण छूटे, अमुक शोथके मारे तिगुना चौगुना मोटा मोटा शरीरमे व्याकुल हो होकर मरा आदि।

प्रिय आत्मन् ! कुछ अच्छा है यह पूर्वकृत पुण्यका फल है। अव्वल तो इस सुविधामे भी क्या सार है, दोयम यह रहेगा ही कब तक ? इस पुण्यफलमे सतोष मत करो, इस वैभवमे सतोषमत करो।

पुण्यफल व पापफल दोनोमे आत्माका क्या हित है ? हित तो ज्ञाता द्रष्टा रहने की परिणतिमे है।

प्रिय प्रभो ! तुम्हारे स्वभाव की बात तो ज्ञाता द्रष्टा रहने की है। यह अनर्थ क्या हो रहा है ? यह सब उपाधिके ससर्गका परिणाम है।

औपाधिक भावो ! दूर हटो। अथवा होओ यह तुम करो या तुम्हारी बला करे। मैं तो सबका ज्ञाता द्रष्टा रहूँ, उस ज्ञानविषयमे तुम भी बने रहो, कौन मना करता है किन्तु तुम स्वभावबाह्य हो, औपाधिक हो अत तुममे अब लगूंगा नही।

११ अगस्त १९५८

आत्मा सत् है, अनाद्यनन्त है, यह रहेगा। किस रूपमे रखना है यह तय करके उसके उपायमे लगो। तय विचार कर करना चाहिये। आगे पीछे की सब सोचकर करना चाहिये।

कुछ भावारम्भ, भवपरिग्रह मे विरक्ति पाकर तत्त्वज्ञानमें उपयोगी रहना और प्राप्त दुर्लभ साधनोका सदुपयोग करना श्रेयस्कर है।

विशेषकर कुछ कुछ समय एक स्थान पर वैठकर ध्यान वढाना और आरम्भ सम्वन्धी झझटोसे परे रहना आत्महित के लिये उपयुक्त है।

आत्मा सत्य वैभव ज्ञान ही है। भौतिक समागम तो आत्महित मे साधक नही, प्रत्युत वाधक ही है।

धर्मभावम विशेष उपयोग हो, एक निजज्ञान स्वभाव में रुचि दृढ हो यही सर्व वैभव है।

आत्महित के लिये नया कदम वढाना सत्य क्रान्ति है। तत्त्व ज्ञान की वृद्धि, वैराग्य का प्रवाह जैसे हो उस उपायमे ही शाति है।

आत्माका महाय ज्ञान ही है। वैभव के होते हुए भी जो सुख या सद्-व्यवस्था या निर्भयता आदि हे वे भी सव ज्ञान की आभाके फल है। परमार्थसे तो आनन्द शुद्ध ज्ञान मे ही है।

प्रत्येक वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वभावसे अपूर्व पर्याय रूपमे उत्पन्न होवे पूवपर्याय रूपसे विलीन होवे और सदाकाल अवस्थित रहे। इस वस्तु स्वरूपके अववोधसे जो ज्योति प्रकट होती है उसके होने पर उस ज्ञाता द्रष्टाको घवडाहट नही रहती, वह किंकर्तव्यविमूढ नही होता। अपना यथार्थ दृढ प्रत्ययके हो जानेसे वह हितमार्गमे चलता हे और अवश्य सफलता प्राप्त करता है।

१२ अगस्त १९५८

कहाँ वाहर अपना क्या काम पडा है ? समस्त पुद्गलका भी ढेर इकट्ठा

सामने हो जावे तो भी आत्माको उससे क्या लाभ मिल सकता। आत्माका पुद्गलकर्मके साथ साम्प्रत निमित्तनैमित्तिकभाव चल रहा है। न चेते तो जो गति साधारण नियमोमे सबको हो सकती है वही तुम्हारी होगी। तुम कुछ अनोखे द्रव्य नही हो।

बाह्यसम्बन्ध आकुलतामे तो निमित्त बन सकता किन्तु अनाकुलता मे कभी निमित्त नही बन सकता।

आश्चर्य तो देखो—बाह्यसबध छोडो इसकी रटमे धर्मकार्य किये जाते हैं किन्तु कदाचित् इष्टवियोग होने का अवसर हो चुकता है। तब खुशी तो मनाता नही कि जिस बात की रटना लगाये थे और धर्मके रूपमे उत्साह बनाते थे वह आज स्वत सिद्ध हो गया। वहा सोचेगे कि इतना तो धर्म किया और देखो तो यह हो बैठा।

कोई बाततो कहता बडी अच्छी और करते उल्टी सो उसे तो कहते है कि खाने के दात और व दिखानेके दाँत और। खुदपर क्या बीत रही और करते क्या है व बोलते क्या है ? परमनिर्विकल्प समाधि प्राप्त करो, विकल्प असार है उनका वमन करो आदि आदि और जो बीता करती है उसे देखकर तो सोचो, वह उक्ति दूसरो के लिये है कि खुदके लिये भी। फर्क इतना ही तो है कि एक दर्शनमोहवश नही कर सकता एक चारित्रमोहवश नही कर सकता।

१३ अगस्त १९५८

जीवोको दुःख पर पदार्थके वियोगका नही होता, भ्रमका होता है। जब प्रत्येक पदार्थ वे चेतन हो या अचेतन अत्यन्त स्वतत्र है तब किसीका किसी अन्यके प्रति स्वामित्व कैसे हो सकता है ?

दुःख मिटनेका उपाय यह है आत्माकी सत्ता, जानो वह एक अखण्ड है, चैतन्यमात्र है, सबसे अत्यन्त पृथक है, पृथक था, पृथक रहेगा।

निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहि लेश निदान।

अपने को अकेला निर्विकल्प मान जानो, विकल्प ही क्लेश है। शान्ति जिसे

देना है उसे जानो, जो शान्ति देना हे उसे भी जानो।

जगतमे प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपस्तित्वको लिये हुए हैं। जिससे एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ स्वामित्व नही है। अत मानवजन्म की उपयोगिता इसमे है कि उदयानुकूल उपलब्ध वाह्य समागम मे भी उपयोग अपनी ओर रखना और औपाधिक चिन्तावो से दूर रहकर अपना वर्तव्य किये जाना।

आत्मा चैतन्यमात्र है, अपने ही स्वरुप मे वसता है। सर्व पदार्थ अपने अपनेही स्वरूपमे वसते है। अत स्वरूपके विरुद्ध न देखना याने परस्परके कर्तृ-कर्मभाव या स्वस्वामिसम्वन्वसे न देखना ही शांति का उपाय है।

वाह्यपदार्थ दृश्यमान सव पुद्गल द्रव्यकी समानजातीय द्रव्यपर्याय है और जिनमे जीवव्यवहार होता है वे जीव व पुद्गलकी असमान जातीय द्रव्यपर्याय है। यह सव सयोगभाव होनेसे मिथ्या है। तत्त्वज्ञानके वलसे मिथ्या तत्त्वोसे दूर रहकर आत्मतत्त्वकी उपासना करो।

१४ अगस्त १९५८

द्रव्यकी पर्याय दो तरहकी है (१) द्रव्यपर्याय, (२) गु पर्याय। इनमसे द्रव्यपर्याय पर थोडा विचार करे। दो या अनेक द्रव्योक सम्वन्वसे जो क्षेत्रगत पर्याय है उसे द्रव्यपर्याय कहते ह। द्रव्यकी जाति छ है इनमेमे धर्म, अधम, आकाश, काल इन ४ द्रव्योके सम्वन्धसे ता द्रव्यपर्याय वनती नही। केवल जीव व पुद्गलके सम्वन्धसे विभाव द्रव्यपर्याय होती है। पुद्गल पुद्गलोके सम्वन्धस द्रव्यपर्याय होती है। जीवपुद्गलोके सम्वन्वसे द्रव्यपर्याय होती है। किन्तु जीव जीवके सवघसे कोई द्रव्यपर्याय नही होती। चौकी, पुस्तक, रुपया, आदि तो पुद्गल-पुद्गलोके सयोगसे होने वाली द्रव्यपर्याय है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव-पुद्गलोके सवधसे होन वाली द्रव्यपर्याय ह। जीव-जीवके सवधसे कोई द्रव्यपर्याय नही होती।

अव देखो तो विचित्रता-जीव-जीवके सवधने कोई पैसा भी नही वटता फिर मोही जीवोको प्राय अन्य जीवमे मोह होता है।

जो कुछ दिखता है वह सब मायारूप है याने पर्यायरूप है, ध्रुव वस्तु नही है। बादलोमे परमाणुओ का आना, जाना, बिछुडना जल्दी अवगत हो जाता है। इन चौकी, मकान आदि मे आना, जाना, बिछुडना जल्दी अवगत नही होता। किन्तु जैसे विघटने की दृष्टि मे बादल मायारूप है वैसे ही ये सब स्कध मायारूप है।

हे आत्मन् ! जो तेरेसे अत्यन्त भिन्न है उनमे रमने का तेरा क्या व्यसन लग गया। व्यसन छोड, सयम ग्रहण कर।

१५ अगस्त १९५८

अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्त्वज्ञानमे यत्न व सयमकी वृत्ति अत्यन्त आवश्यक है।

जगतमे सभी द्रव्य एकाकी है। सभी आत्मा एकाकी है, खुदका परिणाम खुदका रक्षक है और भक्षक भी है।

अनादिसे भक्षक वाला परिणाम रहा तभी तो ससार मे अब तक रूलते आ रहे है। रक्षणवाले परिणाम करनेका अब विशेष अवसर है। ज्ञानकी उपासना करके अपनी सुदृढ रक्षा कर लेनी चाहिये।

कर विचार देखो मन माही। मूंदहु आख कितउ कछु नाही।

बाहिरी परिश्रम किस लिये करना। आत्माका एक निज आत्माही साथी है। दुनियामे यह सब देखनेको मिलता तो है कि सब अपनी ही खिचडी पकाने मे मस्त है।

देखो तो विचित्रता —पुद्गल व पुद्गलोके सम्बन्धसे द्रव्यपर्याय होती है जैसे चौकी, पुस्तक, आदि। जीव व पुद्गलोके सम्बन्धसे द्रव्यपर्याय होती है जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि। किन्तु जीव व जीवके सम्बन्धसे कोई द्रव्यपर्याय नही होती याने जीव-जीवके सम्बन्धका घेला भी नही उठता, फिरभी मोहमे, अज्ञानमे जीवको अन्य जीवके प्रति कैसा मोह रहता है।

जगतके सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपकी सीमामे हैं। अत किसीभी

पदार्थका कोई अन्य पदार्थ कुछ भी नहीं है। हम सभी एक एक पृथक आत्मा है। अपनी अपनी करतूतके अनुसार फल भोगते चले जाते है। कोई किसीको सहाय नही। अतः कतव्य यही है कि आत्मध्यान, भगवद्‌भक्ति, स्वाध्याय आदि विधिसे चर्या करते हुए अपनी निर्मलताकी उद्‌भूति रखे।

१६ अगस्त १९६०

मनुष्य जीवनकी सफलता आत्मज्ञान कर लेने और सयमभावसे रहनेमे ह। जिसने हितमे प्रसाद दिया उसका जीना न जीना बराबर हे।

शान्ति ही तो उपादेय है। शान्ति जैसे मिलती वैसा प्रयत्न करके यदि एक बार भी आत्मस्वाद लिया जावे तो यहा समझमे आयगा कि यही सच्चा वैभव है।

बाह्य किसी भी पदार्थसे आत्माको कुछ नही मिलना। हा किन्ही उन बिना यद्यपि गृहस्थी वालोका निर्वाह नही, किन्तु आत्माका उनसे सम्बन्ध नही यह एकाकी था, हे, रहेगा इस तथ्यको तो न भूले।

स्वानुभवका प्रायोगिक उपाय यह भी है कि प्रतिदिन तीन, दो या एक बार सामायिक करे ही करे। उसमे जाप, भावना आदिसे निवटकर शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ की भावना करके कुछ क्षण किसी भी वस्तुको चित्तमे न आने दे। उपायसे यह बात बन भी जायगी। सब आराम है एक इस आरामको भी देखो।

एक गुण पर्यायसे दूसरे गुण पर्यायोमे परिणाम परिणमकर यात्रा करते हुए इस जीवका अनन्त काल ससारमे बीता। ये पर्याये विषम विषम ही रही, इनमे अनाकुलता नही पाई। इसके दुःखसे मुक्त होनेका उपाय जिनेन्द्रदेवका हुक्म मानना है। भगवानका हुक्म हे कि जैसे निज स्वभावका अवलम्बन करके हम शाश्वतानन्दी हुए है तुम भी इसी पद्धतिसे चलकर सत्य, सहज, शाश्वत आनन्द पावो।

हम सबकी इस जीवनकी सफलता इसीमे है कि जिनशासन से सम्यक् अनुशासित हो जावे।

१७ अगस्त १९५८

ससारकी असारताका चिन्तन करके सुख दुखमे तटस्थ रहना और निरपेक्ष' स्वत सिद्ध निज परम चैतन्यस्वभावकी उपासना करना यही सारभूत व्यवसाय है।

इस समय एक स्वाध्याय ही सर्वोपरि शरण है। वीतराग परमर्षियोके अपनी आत्मसाधनाके अनुभव और परम्परागत सिद्धान्त जिन शास्त्रोमे मिलते हैं उनका लाभ होना अनुपम सौभाग्यकी वात है।

चू कि प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त है अत किसी द्रव्यका कोई अन्य द्रव्य न तो स्वामी है और न कर्ता है। यहा प्रत्येक पदार्थ स्वरसत परिणाम रहा है। परिणमते हुए पदार्थमे जो विशिष्टता (विभाव) आती है वह औपाधिक है जो औपाधिक है वह मैं नही हू और जो उपाधि है वह भी मैं नही हू।

जिन शासनके प्रसादमे पाये हुए इस तत्वज्ञानसे विपरीत आशय की कलुपता मिटते ही सत्य समृद्धि उपलब्ध हो जाती है। ऐसा अमूल्य समानाम (निजधर्म सेवाका सा धन) पाया है तो दृढ चित्त होकर इसमे उपयोगी होकर अपना कल्याण करे। यही हमसबके दुर्लभ मनुष्य जन्म पानेकी उपयोगिता है।

शातिके अर्थ केवल एक निज चैतन्य स्वभावका अवलम्बन परमावश्यक है।

१८ अगस्त १९५८

भगवान् के स्वरूपकी तरह अपना स्वरूप है। अत भगवान् के ध्यानसे अपने स्वरूपके अनुभवमे मदद मिलती है। इसलिये भगवतस्वरूपका ध्यान करे। पश्चात् ४–६ मिनट भी ऐसा यत्न करे कि भगवतस्वरूप ध्यानका भी चिन्तन कर रुके अन्य की तो वात ही प्रथमसे ही दूर रहे। कोई भी पदार्थ चित्तमे न आवे। ऐसा करते हुए के क्षण भरको जो ज्ञानदृष्ट हो जावे वह परमात्म-तत्व है।

ब्रह्मचर्यपालन एक आसान तप ह, एतदर्थ ३ वाते मुख्य आवश्यक है— (१) विद्योन्नतिके कार्य मे लगे रहना, (२) आत्मतत्वका यथार्थ स्वरूप उपयोग

मे रहना, (३) देहकी अशुचिता व पर्यायकी असारता प्रतीत रहना।

(१) मुख्यतया आध्यात्मिक, सैद्धान्ति अथवा गणित, विज्ञान, इतिहास आदि विषयो पर लेखन अथवा अध्ययनादि द्वारा विद्योन्नतिके कार्यमे जो लगा रहेगा उसका आनन्द ब्रह्मचर्य का पोषण करना रहेगा।

(२) आत्मा रूप रसगन्ध स्पर्श से रहित, अमूर्त, चैतन्यमात्र है। यह मैं केवल आत्माभाव को करता हू व आत्मभाव को भोगता हूँ। किसी भी पर द्रव्यको न तो कर सकता हूँ और न भोग सकता हूँ। ऐसा मैं स्वतन्त्र परसे अत्यन्त विविक्त ज्ञानमात्र सत् हूँ। मेरी बान ही नही कि किसी देहमे रमू। यह तत्वज्ञानकृत सहज वैराग्य ब्रह्मचर्यका पोषण करता रहेगा।

(३) ये देह हाड, मास, खून आदि अशुचि पदार्थ का पुतले हैं। सारभूत तत्व कुछ नही है। जीव पुद्गलोके सम्बन्धसे यह असमान जातीय द्रव्यपर्याय का ढाचा दिख रहा है। देह की अशुचिता व असारताके भावसे देहमे बुद्धि नही जमती और अतएव उत्पन्न हुआ सवेग वैराग्य का पोषण करना रहेगा।

१६ अगस्त १९५८

जगतके सर्व समागम बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा इनसे तोष व हित नही पा सकता। पुण्यविपाक वश प्राप्त वैभवके ज्ञाता द्रष्टा रहनेसे लौकिक, अलौकिक सर्व समृद्धि प्राप्त होती है। ससारमे अन्य कुछ भी सार नही है, मात्र आत्म-ज्ञान ही सार है।

झझट तो समागममे होती ही है, होती रहेगी। वे कुछ नई बाते नही है ऐसा जान कर और उन सर्वको अपनेसे भिन्न मानकर ज्ञाता द्रष्टा रहना और अनाकुलताकी रक्षा करना यह ही तत्त्वज्ञानका फल है।

देहमे रहकर भी देहसे भिन्न जो ज्ञानमय सत् है वह ही विकल्पक बनकर दु खी हो रहा है किन्तु निर्विकल्पक बन कर सुखी हो जावेगा।

निज आत्मतत्त्वकी प्रतीति हो जाना सर्वोत्कृष्ट वैभव है। यह तत्त्व आत्म-चर्या द्वारा साध्य है।

समय तो व्यतीत हो ही जायगा। हम कुछ श्रेय करले वह ही सार है। श्रेय है कर्म मुक्ति।

जगतमे दो काम हैं — (१) श्रेय, (२) प्रेय। श्रेय तो कल्याण मार्ग है, प्रेय ससार मार्ग है। निरुक्तयर्थसे तो—सर्व स्वलक्षणोसे युक्त एव शुद्ध होनेको श्रेय कहते हैं और रुच जानेको प्रेय कहते है। एक और बात है जिसे कहते है हेय। सो श्रेय ही प्रेय बन जाय तो उत्तम है और हेय प्रेय बन जाय वह विडम्बना है।

कल्याण मार्गमे लगना व बढना जितने जल्दी हो सके तो अच्छा है। मैं कुछ विकल्पोमे और लगू फिर विकल्प छोडूगा यह तो जान जान कीचड लपेटना और धोनेका ख्याल किये रहनेके बराबर है।

२० अगस्त १९५८

"आप एकचैतन्यस्वरुप अमूर्त आत्मा है" इस यथार्थ हितकारी मर्म को आख मीचकर अन्य इन्द्रियोके कार्यको हटाकर एकाग्रतासे ध्यानमे लाना।

मैं सबसे न्यारा हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, मुझमे रोग नही है, रोगकी दशातो इस जुदे शरीरमे है, मुझमे रोग राग द्वेषका है, सो राग द्वेष मेरा स्वभाव नही, मैं अनादि अनन्त हू, मुझे किसीने पैदा नही किया, मैं तो अविनाशी हू, मेरा मैं हू, मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ नही है।

अरहत सिद्धके स्वरुपका ध्यान करना, विचारना-मुझे ऐसा ही बनना है।

आत्माके स्वभावका ध्यान करना, बाकी सब बिचार छोडकर परम विश्राममे आराम करना।

किसी चाजकी शल्य हो तो तत्त्वज्ञान द्वारा अथवा निवृत्तिगर्भित वृत्ति द्वारा शल्यसे निपट लेना प्रथम कर्तव्य है।

इस जीवको मात्र समता ही सहाय है। समतासे बने रहनेका उपाय करना सर्वोत्तम व्यवसाय है।

हे प्रभो! तेरी भक्तिसे यदि कुछ मिलने की बात सामने आवे तो मैं केवल

यह ही चाहता हूँ कि "एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्यका परिणमन किया जाता है ऐसा प्रतिभात न होवे" ।

द्रव्यके स्वतन्त्र स्वरूपास्तित्वके ज्ञान बिना मौलिक शान्ति आ ही नही सकती । क्योंकि स्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वरूपास्तित्वके अवगम बिना सयोग बुद्धि, कर्ताकर्म बुद्धि, स्वस्वामित्वबुद्धि , मिथ्याबुद्धि दूर नही होती ।

हे सत्य सनातन परम ब्रह्म ! तेरी उपयोगकी लीनता ही शिव मार्ग है उसके लिये तेरे स्वरूपका यथार्थ ज्ञान एव श्रद्धान होना अत्यावश्यक है अत सिद्ध है निश्चयरत्नत्रय मोक्षमार्ग है ।

२१ अगस्त १९५८

अंग्रजोके माह भी राशिसूर्यके सिद्धान्तपर नाम वाले हैं इससे भारतीय ज्योतिष प्रणाली प्राचीन व सयुक्तिक सिद्ध होती हैं —

मार्च—प्रारम्भवाला माह, वर्षका मार्च इस माहसे शुरू है ।

अपरेल—अपर याने दूसरी राशिके सूर्य वाला माह ।

मई— (मय) सहित याने जोडेवाला याने मिथुन राशिके सूर्यवाला माह ।

जून— (चउन) चौथे राशिके सूर्य वाला माह ।

जुलाई—जु=जुडा हुआ, लाई—लाइन (सिंह) से याने सिंह राशिके सूर्य से जुडा हुआ माह ।

अगस्त— (षष्ठ) छटी राशिके सूर्य वाला माह ।

सेप्टम्बर— (सप्ताम्बर) सातवे राशिके सूर्य वाला माह ।

ओक्टूवर— (अष्टाम्बर) आठवी राशिके सूर्य वाला माह ।

नवम्बर— (नव अम्बर) नौवे सूर्य वाला माह ।

दिसम्बर— (दश अम्बर) दशवे सूर्य वाला माह ।

जनवरी— (ऊनवरी) बारामे १ उन अर्थात् ११ वी राशिके सूर्यवाला माह ।

फरवरी— (पूरवरी) पूर्ण बारहवें सूर्य वाला माह ।

इस पृथ्वीपर दो सूर्य चक्कर काटते हैं एक दिन एक और दूसरे दिन दूसरा ।

यह बात पुराण शास्त्रोमे प्रसिद्ध है। जुगराफी शब्द भी यही बात कहता है जुगराफी याने युगरवि जिस सिद्धान्तका विकास दो सूर्यके भ्रमण पर हो सकता है उसे युगरवि अथवा जुगराफी कहते है।

मौलिक वैराग्य सत्‌के स्वरूपास्तित्वकी यथार्थ जानकारी पर निर्भर है।

२२ अगस्त १६५८

विकल्पका होना निर्धनता है। विकल्पोमे बस कर यदि धन बढा लिया, महल उठा लिया, यश पालिया, भौतिक आराम पालिया तो क्या पाया, लाभ यहा कुछ न समझिये, विकल्प किये वह हानि ही समझिये।

काल्पनिक सुख साधनमे रूचि करके, सहज परम आनन्दके निधान चतन्य प्रभुका तिरस्कार किये जारहे है इसका परिणाम भला कैसे हो सकता है।

शील एव सत्यतासे परिपूर्ण जीवन सतोपका जीवन रहता। शीलपतित एव असत्यतापूर्ण जीवन तो पशुतासे भी उच्च नही है।

जिन्हे स्वरूपास्तित्वकी प्रतीति हे उनका चित्त विषयोमे चलित नही होता। कदाचित् तत्त्वज्ञानी जीवकी भी विषयमे वृत्ति हो उठे तो भी वह पदविरुद्ध विषयोने तो वृत्ति करता ही नही।

जिसे रस्सीमे सर्पका भ्रम होगया वह अन्तर्बाह्य आकुलित है। जिसे रस्सी मे सर्पका भ्रम तो है किन्तु बाहिरी अकड व निर्भयता जतानेके लिये "कहाँ है साप" ऐसा बोलते हुए दूसरोको उस ओरसे निराकुल जतावे तो भी क्या हुआ अन्तरङ्गमे तो व्याकुल ही है। जिसे रस्सीमे सर्पका भ्रम तो नही रहा किन्तु पूर्व हुए भ्रमके कारण जो देह व चित्तकी परेशानी हो गई थी वह अब भी कुछ शेप है वह अन्तरङ्गमे तो अनाकुल है व बाह्यमे किंचत् व्याकुल है। जिसे रस्सीमे सर्पका भ्रम नही रहा और पूर्व हुई देह व चित्तकी परेशानी भी शेप नही रही वह अन्तरङ्गमे भी निराकुल है और बाह्यमे भी निराकुल है। इसी पद्धतिसे चारो बाते अध्यात्ममे भी समझना चाहिये।

२३ अगस्त १६५८

विकल्प बने रहते है इसका कारण यह है कि स्वभावरूचिकी दृढता नही हैं स्वभावरूचिकी दृढता होने पर कभी तो निर्विकल्पता आती ही है।

प्रिय दु ख परिणत निजनाथ ! उपयोगका जरासा ही तो खेल है, परकी ओर उपयोग न लगा, निजकी ओर ही उपयोग लगा। देख-सारे सकट क्षणमात्र मे कट जायेगे।

जगतमे तेरा कौन तो बन्धु है और कौन शत्रु है सर्व जीव जब मात्र अपने आपमे ही परिणमते है तब कोई अन्य कैसे किसीका बन्धु (मित्र) व शत्रु हो सकता है।

जिसे परमे निजका भ्रम होगया वह अन्तर्बाह्य आकुलित है। जिसे परमे निजका भ्रम तो हे किन्तु बाहरी साधना, व्रत, तप, शान्ति आदिमे लगा है, तत्त्वकी कथनी भी अच्छी करता है, तो भी क्या हुआ अन्तरङ्गमे तो व्याकुल ही हैं। जिसे परमे निजका भ्रम तो नही रहा किन्तु पूर्व हुए भ्रमकी अवस्थामे जो कर्मबन्ध हो गया था बाद भी उस कर्मोदयके निमित्तसे हुए विभावसे जो बन्ध हो गया व जो सस्कार होगया था वह अब भी शेष हे ऐसा आत्मा अन्तरङ्ग मे तो अनाकुल हे व बाह्यमे किञ्चित् व्याकुल है। जिसे परमे निजका भ्रम नही रहा व पूर्व हुए सस्कार व विशिष्ट बन्ध भी शेष नही रहा वह अन्तरङ्गमे भी निराकुल है व बाह्यमे भी निराकुल है।

ॐॐॐॐॐॐॐ,ॐॐॐॐॐॐ। अहिसा परमो धर्म। सत्य मेव जयते सदा। ब्रह्मचर्य पर तप। स्वाध्याय परमो गुढ। सन्तोष परम सुखम्। तत्त्व-ज्ञान पर धनम्। अर्हं ॐ तत् सत्।

२४ अगस्त १६५८

जैन बाग सहारनपुर

अहो सत्पथ दर्शक पावन जिनबिम्ब

हे नाथ. अब तकका समय नादानीमे गया। किसी भी पर वस्तुका सङ्गहित

रूप न था । कषायके जोशमे परिणतिके राजमे जो भी व्यर्थ विकल्प हुआ वह यदि न होता और तत्त्व ज्ञान एव वैराग्य तथा समाधिभाव रहा होता तो वह क्षण सफल था व आज उसका परिणाम सन्तोषपूर्ण होता ।

हे वीर ! तेरा जब यहा साक्षात् दर्शन था उस समयके लोग धन्य हो गये थे। तेरा चरणरज जिन्हे मिला होगा वे बडे भाग्यशाली थे। आज भी तेरा तीर्थ है । हे प्रभो तुम सदेह यहाँ नही हो, किन्तु आपके तीर्थमे रह कर जो मेरा उपकार हुआ है उससे तो यही उपन्यस्त है कि हे प्रभो आप मेरे समक्ष ही हैं ।

हे कुमारश्रमण ! तेरे शरणमे रह कर पूर्ण आत्मनिष्ठ होऊ, आत्मबली होऊ ।

हे उत्तम क्षमाशील ! ऐसा आत्मबल प्राप्त हो कि कोई कितना भी प्रतिकूल हो, कितना भी कोई उपद्रव करे, रच भी क्षोभ उत्पन्न न हो । ऐसे प्रतिकूल पुरुषके प्रति द्वेषका लेश भी न हो । तथा, कोई कितना भी सन्मान करे, प्रशसा करे, गुण गाये फिर भी हितबुद्धि न हो कि ये मेरा बडप्पन बनाने वाले हैं। ऐसा विकल्प हुआ तो बडप्पन कहा रहा, तुच्छता तो आ ही गई ।

हे परम शान्त ! सर्व विकल्प बाधावोसे दूर होकर निस्तरङ्ग होऊं ।

हे ज्ञानपुञ्ज ! सरलता का मेरे उदय रहे, ज्ञानके तिरोभूत होनेमे मायाचार या वक्रता विशेष कारण है ।

आज जैनबागमन्दिरके जिनबिम्ब श्री महावीर स्वामीके समक्ष बडा ही भाव लगा । बीच बीच सोचता रहा कि इस मूर्तिको स्थापित कर श्री जिनेश्वरप्रसाद जी ने तो बडा ही उपकार व पुण्यका कार्य किया । मूर्ति बहुत ही वैराग्यभाव दर्शक है इसके कारण बाहरके लोग भी आकर्षित होकर यहा आते है यह बिम्ब पद्मासनमे ५। फुट ऊ ची है श्वेतवर्ण है और सर्वाङ्ग सुन्दर है ।

२५ अगस्त १९५८

कल्याणार्थीको ससारका यथार्थ स्वरूप जानना और अपने को चैतन्यमात्र एकाकी समझना चाहिए ताकि चित्त पर पर पदार्थोके विषयमे किये जाने वाले विकल्पोका भार न आवे ।

आत्मा सदा अकेला है। आत्मा ही क्या, सभी पदार्थ अकेले है। किसी का स्वरूप किसी अन्यमे नही जाता। सब आत्मा अपने अपने ही भावोको भोगते है, उन उन रूप परिणमते है। इसकी सत्य तत्वकी दृष्टि ही अमृतपान है जिन्होने यह अमृत पिया वे अमर हो गए। अमर तो सभी आत्मा है। आत्मा ही क्या सभी पदार्थ अमर है जिन आत्मावो को निज अमर स्वभाव की खबर नही वे वाह्यदृष्टि द्वारा वाह्यके प्रति अटक अटककर भटक रहे है। यह नर जन्म दुर्लभ है। इसकी सफलता आत्मज्ञानमे ही है।

प्रत्येक पदार्थ स्वत सत् है अतएव स्वत उत्पाद व्यय वाला है। यही कारण है कि कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ अपने स्वरूपसे वाहर कुछ नही करता है। वस्तुस्वरूपके विपरीत भाव रखना मोह की तरङ्ग है।

सत्य आनन्द तो आत्माका निज आत्मामे ही है। 'आत्मा सो परमात्मा' ऐसा तो प्राय सभी कहते है, किन्तु आत्मा किस प्रकार परमात्मा है अथवा आत्मा कैसे परमात्मा वने अथवा आत्मामे कैसे परमात्मत्व पा लिया जावे अथवा आत्मा मे परमात्मा के कैसे दर्शन हो इन वातो पर जीवने प्रथम तो विचार ही नही किया, यदि विचार भी किया तो अपने ज्ञाननेत्रसे न देखकर वाह्य क्षेत्रमे चर्मचक्षु व अन्य इन्द्रियोसे देखने का उपक्रम किया। परिणाम यह हुआ कि आत्मा सो परमात्मा यह कहने मात्र की वात रह गई।

२६ अगस्त १९५८

भैया! मनुष्य जन्म मिला है, वडा ही दुर्लभ रत्न है। धर्म वाहर कही नही देखना, कही नही खोजना। आप खुद है, खुदके स्वरूपको पहिले जान तो ले फिर सव स्वय ही सत्पथ दर्शन व सत्पथ गमन होगा।

शान्तिका अमोघ उपाय तो तत्वज्ञान ही है। तस्य भाव तत्वम् वस्तुका स्वभाव तत्व है। स्वभाव सद्भावरूप है। प्रत्येक वस्तुका स्वरूपसद्भाव अन्य सवके स्वरूपसद्भावसे जुदा है। सद्भाव स्वत उत्पादव्यय ध्रौव्यस्वरूप है। अत यह पूर्ण सुनिश्चित है कि किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यका उत्पाद

नही किया जा सकता है। किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यकी पर्याय उत्पाद नही किया जा सकता है। किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यका व्यय नही किया जा सकता, किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायका व्यय नही किया जा सकता।

कोई भी द्रव्य हो अनुत्पन्न व अविनष्ट है। द्रव्यका उत्पाद अपूर्वपर्याय रूपमे द्रव्यके प्रकट होने को कहते है। द्रव्यका व्यय पूर्वपर्यायके तिरोभूत होने को कहते है।

ऐसी सीधी सीधी सत्य सरल व्यवस्थाका जीव को पता नही चला, यह अज्ञान अन्धेरके राज्य का परिणाम है।

तरगे आत्मभूमिमे होने वाली है विचित्र जिनके मूल, शिर का पता नही पडता फिर भी वे पता अपना ठोककर देती। ये सारी विपदाये एक निज ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे समाप्त हो जाती है।

२७ अगस्त १९५८

हे वीर देव! तुम्हारी उपासनाका शरण पाया, नरभव जैसा अमूल्य अवसर पाया। अब हे नाथ! सर्व मलीमसतावो की होली हो ले। सर्व पदार्थो के विकल्पो की इतिश्री हो ले। हे देव! कुछ तथ्य नही है पर वस्तुके अनुराग मे। पर कैसा ही हो सुरूप हो, मनोज्ञ हो आखिर वह सब पर ही तो है, उसका स्वरूपास्तित्व उस ही मे तो है फिर मेरे हित रूप कैसे हो सकता है।

ॐ, जावो विकल्पो! अब तक अज्ञान मे ही तेरा आदर था।

जब तक परविषयक अनुराग हो कैसे कहा जा सकता है कि वह वीर प्रभुका सच्चा अनुयायी है। हे देव! तेरी जैसी धीरता, तेरी जैसी उदारता, तेरी जैसी गम्भीरता, तेरी जैसी प्रज्ञा, तेरी जैसी मुद्रा प्रकट हो, प्रकट हो।

वीर नाथकी चर्यासे अपने आपमे ही प्रसन्न अपने आपके कारण बने रहना न सीखा तो क्या सीखा?

सत्य शिव सुन्दरम्—सत्य ही कल्याण है, सत्य ही मोक्ष है, सत्य ही सुन्दर

है । सत्य क्या है—सति भव सन्यम्, यत् सति द्रव्ये स्वय भवति तत्सत्यम् । जो सत् मे स्वय हो, उपाधि बिना जो परिणति हो वह सत्य है। वह है शक्तियो का शुद्ध विकास । आत्माके इस विकासका नाम परमात्मत्व ।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदिरूप परिणमन ही सत्य है वही शिव है, वही सुन्दर है ।

कल्याण चाहो तो मन को जीतो । विषय व लोकेषणा पूरा गोरखधधा है । सिद्धि इनसे कुछ है नही, लालच ही वला सिर पर रह जाती है ।

२८ अगस्त १९५८

विकल्पो ! मत आओ । इन क्षणोमे तो मत आओ । इसके पश्चात् भी तो बहुत समय पडा है, मिल लिया जायगा । अभी हम इस सकल्पके साथ हे कि विकल्परहित अनुभवन करना । जीवनका सार भी सफलता भी तो इसमे है । पर पदार्थ ढेर भर सामने आवे, समागममे आवे क्या मिलेगा । उन्हे और क्या मिल जायगा हमे । सब इकहरे इकहरे अपने अपने स्वरूपमे स्थित है। अनादिसे यह मर्यादा है अनन्त काल तक यही मर्यादा रहेगी ।

आनन्द और है ही क्या ? विकल्पोका न रहना ही आनन्द है । विकल्पो को करके आनन्द चाहते व मानने की बुद्धि मात्र व्यामोह है। इसीसे तो आनन्द चाहते हुए भी आनन्द नही मिलता और जो कुछ मिलता है वह टिकता नही तथा उसकालमे भी तृष्णा बनाकर उसका भी लाभ मिटा दिया जाता है।

मनुष्यभवका समय अमूल्य है इस समयको रौद्र ध्यानमे, निदानमे अथवा किसी सकलेशमे बिता देना अपने आप पर अन्याय है ।

अहो परेशान है प्राय सब मुमुक्ष अपने वर्तमान ढचरे की समस्या सुलझाने के लिए । यह ढाचा यो हो गया तो किस प्रकार ? कोई तो हैरान होकर कह देत है परमात्मा ने बनाया तो कोई हैरान होकर कह देते है आत्मा कोई अलग नहीं, पृथ्वी आदि तत्त्वो का मिलकर बन गया हो ।

वीतराग शासन ने वीतरागस्वरूपकी प्राप्ति के उपाय मे द्रव्यस्वरूपका

मूल उपदेश दिया है। स्व पर का यथार्थ ज्ञान होने पर फिर निमित्तनैमित्तिक भाव को देखकर सब निर्णय कर लिया जाता है।

२६ अगस्त १६५८

चतुर्थकाल मे आज की तिथिमे श्री अकम्पन आचार्य सघ सहित पर हुआ घोर उपद्रव श्री विष्णुकुमार मुनिराज के द्वारा शात हुआ था और श्रावकोने हर्ष उपद्रव शाति पर माना। साधुओ के कण्ठ धूमसे रुक गए थे। अत श्रावको ने पेयप्राय आहार बनाया था और उन साधुओ को सप्रमोद आहार दिया था।

यह अकम्पन आत्मा अनन्त शक्ति साधुओ के सघ सहित उज्जैन अर्थात् जिस भावमे उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त समाया हुआ है उस भावमे विहार करते हुए आये उस समय वहा औपचारिक धर्मका राज्य था उसके मन्त्री मोह, काम, राग और द्वेष ये चार थे। अन्य प्रजागण व राजा दर्शनोको चला तब इन मन्त्रियो को भी चलना पडा। मन्त्रियो के उपद्रवका आभास होने से अकम्पन आत्माने सभी समुदायको मौन कहने को कहा उस समय श्रुतज्ञानने यह आदेश न सुन पाया। श्रुतज्ञान शुभ विकल्पो का आहार करके जब अकम्पनके समीप आ रहा था तब रास्ते मे इन मन्त्रियो की भेट हुई इनका व श्रुतज्ञानका विवाद चला, उसमे मन्त्रियो की हार हुई। श्रुतज्ञानने अकम्पन ब्रह्म को वृत्तान्त सुनाया तब अकम्पन ब्रह्म का आदेश हुआ कि अब विवाद स्थल पर अपना ध्यान लगाओ। श्रुतज्ञान ने ऐसा ही किया। मत्री जनोने अदृष्ट अवसर पाकर श्रुतज्ञान पर आक्रमण किया किन्तु श्रुतज्ञान के योगके प्रसादसे वे आक्रमण विफल हुए प्रत्युत चारो मत्री निष्क्रिय कीलित हो गये। औपचारिक धर्म को जब यह समाचार विदित हुआ तब उसने इन चारो को जुगुप्सा वाहन पर सवार करके व्यवहार सीमा से बाहर कर दिया।

ये चारो वहाँसे निकलकर अस्तनागपुर मे आये, वहा के राजा पद्म याने हृदय कमलके मत्री हो गये। राजा पद्म सिंहवल उर्फ विद्यावल की प्रवलतासे वहुत दुखी था। मत्रियो ने छल करके विद्यावल को पद्मके आधीन करा दिया।

इस खुशी मे उसने मंत्रियों को वरदान मांगने को कहा। मंत्रियोंने अवसर पर मांगेंगे ऐसा कहकर वरदान भण्डारमे रखा दिया।

३० अगस्त १९५८

इधर अकम्पन ब्रह्म निज रत्न सहित विहार करते हुए हस्तनागपुर याने ध्वस्त याने नष्ट हो गया है नाग अर्थात् अस्थैर्य (अस्थिरता) जहा पर ऐसा पुर याने स्थान मे आये। तब इन चारो ने अपनी करतूत का अवसर जानकर उससे ७ दिन का राज्य मांगा। ७ दिनसे अधिक राज्य मांगने की इनमे हिम्मत न हुई। प्रत्याख्यानावरण कषायका पूरा सस्कार समय इनकी कल्पनामे पडे था। राज्य पाकर इन्होने बडा उपद्रव किया। अकम्पन ब्रह्मको समस्त गुण साधुओ सहित हुवी, चर्म आदिसे वेढदिया अति दुर्गन्धित देहादि को करके और चनेशकी तीव्र दाह लगा दी। उस समय ज्ञान विष्णु मुनिराजने इस उपद्रव को शान्त करने का यत्न किया। प्रथम तो वामनरूप रखकर याने अपने प्रसार को समेट केन्द्रित किया और फिर ऐसा प्रसार किया कि समस्त उपद्रव को शात होना पडा। यहां अकम्पन ब्रह्म की सतसमुदाय रक्षा होती है।

इन कठिन उपसर्गों के विजय मे हुए श्रमके पश्चात् परम विश्रामकी आवश्यकता थी सो कुछ क्षण परमविश्राम लेकर इन सतोने शुक्ल मृदु ध्यानामृत का पान किया और फिर परम आनन्दमे वे विमग्न हो गये।

यह अध्यात्मदृष्टिसे परखा गया रक्षाबन्धनभावपर्व हमे इस अध्यात्मरक्षा की ओर प्रेरित करता है। जिसके अनुयायी होने पर इस अनुयायी के निमित्त मे अन्य जन भी निर्भयता और सुरक्षाका अवसर पा लेते है।

३१ अगस्त १९५८

आजकल की प्रचलित समाधि मनके स्थूल विकल्प रोकने मे समर्थ तो है किन्तु वासना मेटने मे व तत्वज्ञान का अनुभव कराने मे समर्थ नही है। हा यदि तत्वज्ञानीके प्रचलित पद्धतिवाली भी समाधि हो जावे तो वह तत्वज्ञानके अनुभव मे सहायक होता है।

केवल तत्त्वज्ञानमे ही रुचि रखने वाले और समाधि प्राणायामके अभ्याससे शून्य पुरुष तत्त्वज्ञानकी विशेष एकाग्रताके कारण श्वास् योगनिरोध रूप समाधि को प्राप्त हो सकते है। वे तो लाभमे आ सकते है, किन्तु तत्त्वज्ञानशून्य जन धारणा श्वासनिरोध आदि योगसे भी वह आनन्द प्राप्त नही कर सकते अत. श्रेयके लिये तत्त्वज्ञान ही प्रमुख तत्त्व है।

अभेद अखण्ड त्रैकालिक निज पदार्थके समझने समझाने की प्रवृत्तिके लिये स्वरूपके अनुरूप भेद किये गये गुण व पर्याये इस पदार्थके लाञ्छन है। यदि ये लाञ्छन करनेकी नौबत न आये और ज्ञानी अभेद निराकुल निज पदार्थका सहज अनुभव न करता रहे तो यह सर्वोत्तम कार्य है। एतदर्थ किये गये भेद रूप गुण पर्याय अकलङ्क लाञ्छन है पदार्थके।

जिस सिद्धान्तमे केवल असङ्ग तत्त्वकी दृष्टि बनानेको उत्साह कराया जाता हो उस सिद्धान्तके अनुयायी होकर यदि पर पदार्थके लोभमे सने रहे तो क्या वे उस सिद्धान्तके अनुयायी कहे जा सकते है।

देहलीमे प० बाबूराम जी आये एक माह तक रहेगे। आपका विचार व कल्याणपथकी ओर गमन सराहनीय है।

१ सितम्बर १६५८

श्री भाई जिनेन्द्रकुमारजी पानीपत वाले आये। ये सरल परिणामी आत्म-हितके सत्य रुचिवान् व आडम्बर रहित भद्र पुरुष है।

जिन जीवोका ससार अल्प रह गया उन जीवोकी ऐसी परिणति हो ही जाती है। आत्मज्ञान शान्तिपथकी ओर ही ले जाता है।

जगत सब पर्याय रूपमे चलता और व्यवहृत होता। द्रव्यका द्रव्यसे व्यव-हार नही। पर्यायका पर्यायमे व्यवहार है। पर्यायका पर्यायसे व्यवहार नही। पर्यायसयुक्त द्रव्य किसी पर्यायसयुक्त अन्य द्रव्यसे व्यवहृत हो जाता है। तद्-यभूत एव ध्रुव तो द्रव्य है। पर्याय स्वभावमे अभूत अतएव अतथ्यभूत एव अध्रुव है। प्रमुखतासे देखो—पर्यायोका ही झमेला है, विवाद है, समागम है। जो

मायामय है याने किञ्चित् क्षणको होकर विलीन हो जाने वाला है उसको रागका विपय बनानेमे हित क्या होगा प्रत्युत विकल्प जालोसे पराभूत होकर अपना अनर्थ कर लिया जाता है।

विकल्प तो अनर्थ हैं और अत्त्वज्ञान अमृत है।

मुजफ्फरनगरसे स्व० जनरल कर्नल रा ब घमडी लाल जी की पुत्री धन्नो वाई जी धर्मसाधनार्थ आई है। आप इतनी वृद्ध अवस्थामे भी धर्मकर्तव्यमे वडी सावधान रहती है। गिन्दीवाई जी भी उनके साथके लिये आई हुई है।

शान्ति सव चाहते है, स्वके उन्मुख होनेमे शान्ति ही शान्ति है। स्वके उन्मुख नही हुआ जाता और परके उन्मुख वने रहना आमान वन रहा है यह मान मोहकी लीला है। ज्ञायकस्वभावकी लीला नही।

२ सितम्बर १९५८

धर्म आत्माकी परिणति है। यदि जीवकी मोहक्षोभ रहित परिणति है तो वह धर्म है चाहे वह जीव वनमे हो, नगरमे हो, कैदमे हो, सभामे हो।

धर्मी जीवका धर्म कोई नही छीन सकता। कोई कितना ही प्रतिवन्ध लगावे तो अव्वल तो वह अपने सिवाय अन्य का कुछ करता नही है फिर भी लोकवादकी भी दृष्टिसे देखे तो अन्य कोई अन्यके शरीरका वन्धन, ताडन आदि ही तो कर पावेगा, जीवके भाव करनेमे कलाअन्यकी नही चल सकती।

कोई कैदमे वन्द करे तो करे। यह शरीर ही कैदमे रह सकेगा भावसे तो उत्तम परिणाम रखे तो उसको क्या हानि हुई। जीव जव भाव उत्तम रखता तो वही तो उसका लाभ है और जव दुर्भाव करने लगे तो वही उसकी हानि है। वाह्य सयोग वियोगसे लाभ हानि नही। जीवकी लाभ हानि उस ही जीवकी परिणतिपर निर्भर है।

यदि पराशा न हो तो कोई वन्धन नही है। पराशा क्या साधारण वन्धन है। पराशा ही मात्र वन्धन है। सर्व पदार्थ स्वत सिद्ध है अत सभी प्रत्येक निरन्तर अपने अपने परिणमनमे लगे हुए है। कोई किसी अन्य द्रव्यका

परिणमन नही कर सकता । फिर कोई किसीकी आशाकी पूर्ति कैसे कर सकता है ?

यह जीव स्वय ही नैराश्यामृत पीकर आशाकी पूर्ति कर सकता है ।

३ सितम्बर १६५८

प्रश्न —क्या विशेप ज्ञान वढाना विकल्पका कारण नही हे ?

उत्तर —विशेष ज्ञानसे अनेक समस्याये सुलझ जाती है तब ऐसे प्रकाश मे अपने को पाकर आत्मा निर्विकल्प अवस्थाको पाता है ।

मैं शुद्ध हूँ, क्योकि अन्य सर्वपदार्थोसे अत्यन्त जुदा हूँ ।

मैं बुद्ध हूँ, क्योकि ज्ञानस्वभावके विकासकी ओर जानेकी मेरी प्रकृति है ।

मैं नित्य हू । क्योकि सर्वदा सद्‌भूसपना मरा रहेगा ।

मै निरञ्जन हूँ, क्योकि राग द्वेषके अञ्जनसे रहित स्वभाव वाला हू ।

मैं ज्ञानस्वरूप हू, क्योकि ज्ञानमयही 'तत्त्व हूँ ।

मै आनन्द स्वरूप हूँ, क्योकि आनन्दके किसी न किसी विकासका अनुभव करने वाला हूँ ।

मैं चैतन्य शक्ति मात्र हू, क्योकि प्रतिभासस्वभावमय हूँ ।

मैं स्वत सिद्ध हूँ, क्योकि "हूँ" ।

न तो मैं किसीको शरण हू और न कोई मुझे शरण है । सर्व चिन्ता व कथाकी चेष्टाओसे मेरा कोई हित नही । मैं यहा कहा रमूं ? कौन मेरा क्या हे । जगतका सब पुद्‌गल यह स्कन्ध वाला किस किस रूपमे भोगने मे नही आया । ये दृश्य सभी पुद्‌गल जूठे ह । जूठे अथवा वमन किए हुए इन दृश्य वैभवोमे प्रीति करना क्या मूढता नही है । वमन किया हुआ भा जाय तो इसे तीव्र आसक्ति कहना चाहिये ।

कोई राग द्वेषका मूल कारण ज्ञानको कहते है । सो ज्ञानको न होने देने के लिये प्राणायाम समाधिका प्रयोग करते हे । भले ही समाधि हो जावे किन्तु सूक्ष्म विकल्प तो नष्ट भी नही रुकते और उस समाधिके क्षणके बाद वैसी की

वैसी ही स्थिती रहती है। वास्तविकता तो यह है कि राग द्वेषका मूल कारण तो अज्ञान है। अज्ञान मिटनेके बाद तत्त्वज्ञानके दृढ अनुभवसे राग द्वेष मिट ही जावेगे।

४ सितम्बर १९५८

बौद्धमतमे निर्विकल्पज्ञान कहा उसे स्वरूपसे तो निर्विकल्प मात्र किन्तु विकल्पका उत्पादक नही है ऐसा माना। लेकिन जैनमतमे निर्विकल्पज्ञानको विकल्पका उत्पादक तो नही माना किन्तु स्वरूपसे सविकल्प माना और स्वपर प्रकाशक माना तब निर्विकल्पज्ञान कैसे बन सकता। यह एक समस्या है— सुलझन इस प्रकार है कि निर्विकल्पज्ञान किसी अपेक्षासे सविकल्प है और किसी अपेक्षा से निर्विकल्प है। विषयादिके विकल्प नही है इससे तो निर्विकल्प है और स्वसंवेदन कर रहा है इससे सविकल्प है।

चित्त स्थिर करो तत्त्वज्ञानके बलसे। किसी भी पर द्रव्यको अपना रच भी हितकर अथवा स्व या स्वकीय न समझो। बात ऐसी ही है, मानलो सत्य, क्यो परेशान होते हो। जब भी परेशानीसे दूर होगे बात तो यही मानना पडेगी।

देखो ना, जो कुछ दिख रहा है यह सब अनेक परमाणुओका पुञ्ज है। यह क्यासे क्या बन गया है, अध्रुव हैं, असत्य है। केवल एक एक सत्का तो यह कुछ नही है। इस सबके पीछे अपने प्रभुत्वका घात न करो प्यारे। इतना तो बच्चेको समझावे तो वह भी मान जाते। तुझे क्या रग चढा है, अन्तर्मुहूर्तको तो मान ही ले।

आत्माका सत्य साथी तत्त्वज्ञान है।

५ सितम्बर १९५८

उपयोगका विषय शुद्ध तत्त्व रहे उतना क्षण तो सफल है, शेष तो गप्पवाद है। मनका जीतना आत्मीय आनन्दके स्वादके अभावमे कठिन है, कठिन ही नही, असभव है। आत्मीय आनन्दकी अनुभूति होने पर मनका जीतना अति सुगम है।

सबसे अधिक विपत्ति मनुष्यको लोकेषणा है। लोकेषणाका अर्थ है लोकोमे

अपने बडप्पनकी चाह करना— लोक क्या है। असमानजातीय द्रव्यपर्याय। ये प्रथम तो पर है इनके कुछ सोचनेसे दूसरेको क्या लाभ हो सकता है। लोकेषणा चाहने वाला व्यर्थ ही विकल्प बनाकर पापी व आकुलित होता है। द्वितीय बात यह है कि ये सभी अध्रुव है इनकी प्रसन्नताके अर्थ विकल्प करना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

जीवन क्षण क्षणमे गुजर रहा है, जो गुजर गया वह तो किसी भी प्रकार आ ही नही सकता। मनुष्य भवका अवसर धर्मसाधनाके लिये अच्छा अवसर है। इस अवसरको व्यर्थ न जाने दो। गप्पोम, रौद्रध्यानमे एक क्षण भी गुजारना उचित नही है।

मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, तुम तो ज्ञानभावके कर्ता हो, क्योकि ज्ञानभाव कर्मके उदयसे नही होता। जो जो भाव कर्मके अभावमे बनता उसके तुम सत्य कर्ता हो और जो जो भाव कर्मके उदयसे होते हे उनके सत्य कर्ता नही हो। रागादि होते हे वे कर्म उपाधिवश हुए है। तुम उन परकृत भावोके ज्ञाता द्रष्टा रहो। ऐसा जानते रहो ये होरहे हैं देखो कर्मोदयका विपाक हे। ये इस क्षणके पश्चात् विदा हो रहे है, जानो।

६ सितम्बर १९५८

व्यावहारिक धर्म, व्यवहार धर्म, निश्चय धर्म इन तीन प्रकारके धर्मोमे लक्ष्य एक हे किन्तु परिणतिविभिन्नतावश पद तीन हो गये हे।

(१) निश्चयधर्म—"वत्थुसहावो धम्मो" यह निश्चयधर्म है। निश्चयधर्म ध्रुव नित्य अन्त प्रकाशमन है। आत्माका निश्चय धर्म चैतन्यस्वभाव है। यह लक्ष्यभूत है परिणतिलक्षण नही।

(२) व्यवहारधर्म—निश्चयधर्म (यथा आत्माका चैतन्य स्वभाव) का शुद्ध निरपेक्ष अर्थात्निरुपाधि परिणमन व्यवहारधर्म है। यह विशुद्ध परिणतिलक्षण हे।

(३) व्यावहारिकधर्म— आंशिक व्यवहार धर्मके होते हुए याने आंशिक रागादिनिवृत्तत्वके होनेपर अवशिष्टरागादि की निवृत्तिके ध्येयसे किये जाने वाले

तत्त्वचिन्तन, भक्ति, तत्त्वचर्चा, धर्मोपदेश, सयम, सामायिक, समिति, अनुग्रह आदि व्यावहारिक धर्म है।

जीवका एक शरण धर्म ही है। अन्य कोई तो कदाचिदपि शरण हो ही नही सकते। मनुष्योको भोजन करना जितना आवश्यक प्रतीत होता है उससे बहुत अधिक भोजनका राग छोडना आवश्यक है और सर्वोपरि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका चिन्तन अनुभवन आवश्यक है। धर्म स्वाश्रित है, परके द्वारा आत्मधर्मका अथवा किसीके धर्मका घात नही होता। जीव कर्मविपाकप्रभव रागादिमे उपयोगी बनकर स्वय अपने धर्मका तिरोभाव करता है।

७ सितम्बर १९५८

कर्तृवाच्यके प्रयोग अहङ्कारताके पोषक है और कर्मवाच्यके प्रयोग निरहङ्कारताके भावको अवसर देते। हैं अकर्मक कर्तृ वाच्य एव भाववाच्यके प्रयोगमे अहङ्कारताको स्थान ही नही है।

अहङ्कारका प्रसिद्ध अर्थ परमे अहके कर्तृत्वका भाव करना है।

जैसे यह कहना कि "मैं पुस्तक लिख रहा हूँ" इसमे कर्तृत्वका भाव आया और यदि कहा जावे 'मेरे से पुस्तक लिखी जा रही है' तो कर्तृवाच्यसे तो ढीलापन है ही अहङ्कारमे तथा यदि जचा रहे कि मेरे से के मायने तो यह है कि "मैं तो निमित्तमात्र हूँ तो अति शिथिलता अहङ्कारकी प्रसिद्ध होती है।

पर सम्बन्धका कुछ भी ध्यान कर जो हर्ष होता है वह हर्ष विष है। यदि कल्याण चाहो तो परके विषयमे अच्छी उन्नतिकी बात सोचकर भी जो हर्ष मग्नता है उसे भी त्यागो। तुम्हारा परममित्र तो निर्विकल्प भाव है।

शान्तिका कारण तो पर सयोग नही है। तीन लोकका पुद्गल भी समागममे हो तो भी आत्मामे शान्ति आनेका कोई हेतु नहीं है वह। शान्ति तो मात्र तत्त्वज्ञानसे ही आ सकती है। लोक सारा पडा तो है यह, मान क्यो नही लेते कि मेरा है। लौकिक कब्जेमे आये तब भी तुमसे परका परिणमन

९ सितम्बर १९५८

अन्य पदार्थमे अपना सार तत्त्व कुछ नही है। किसी भी वाह्य पदार्थसे अपना हित समझना यही मोह कहलाता है। प्रत्येक सत् अनादिसे है और अनन्त काल तक रहेगा एव अपने ही स्वभावसे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त चला आया व उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त चलता रहेगा।

किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थसे सम्बन्ध तो रच भी नही है। वस्तुस्वरूपकी प्रतीतिकी प्रबलताके साथ यदि पक्की व पूरी हिम्मत इस भवमे कर ली जावे तो परका तो परमे ही काम चलेगा उसको तो कुछ हानि नही किन्तु अपना सदाके लिये भला हो जायगा।

ससारकी गति देखकर अपने बारेमे भी वैसा ही निर्णय कर लेना विवेक नही है। ससारी जन तो सयोगबुद्धिमे सने है प्राय। उनकी प्रवृत्ति देखकर अपने पथका निर्माण करना हित मार्ग कैसे हो सकता है?

आत्मशान्ति तो आत्माकी स्वाभाविक चीज है, किन्तु परोपयोग करके आत्मशान्तिका घात कर रहा है। हे आत्मन्! वाह्य किसी पदार्थमे आत्महित नही है। आत्मघातमे पराभव ही पराभव रहेगा। एक दम परके विषयक समस्त सकल्प विकल्पोको छोड कर आत्म तत्त्वमे स्थिर होओ।

१० सितम्बर १९५८

हे प्रियतम! तुम गुप्त हो तुम्हारी कला पर हम टिके है किन्तु तुम दर्शन नही देते। तेरे दर्शनके समक्ष तीनो लोकोका वैभव न कुछ चीज है।

ध्रुव निज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि, आश्रय, अवलम्बन व परिणमन ये सब मोक्षमार्ग है और क्रमश उत्तरोत्तरकी वे दशाये मोक्षके निकटकी दशाये है।

जिसका सत्य विज्ञान अनाकुलताका अमोघ हेतु है, जिनका सत्य परिज्ञान शाश्वतप्रमोद कलाका परिचायक है, जिसमे हुआ सत्य रमण सहज आनन्दका निष्पादक है वह कारण समयसार मैं ही तो हूँ। अज्ञान तममे आच्छन्न होकर भूला भटकता घूम रहा हू। घूमता भी कौन है? कारण प्रभुकी लीलाका कौतूहल।

हे शुद्धान्त स्तत्त्व ! तुम इस तरह अन्त प्रकाशमान हो जैसे दूध मे घृत। मर्मी हो तुम्हे पहिचान सकता है। मूढकी वहा गति नही है।

हे परमपिता, परमब्रह्म ! प्राय. कर ईश्वरके नामसे जो कथाये बनी है, अलङ्कारोके रूपमे जो ऋषिचरित्र गूथे गये है, ज्ञानकी मार्मिक उक्तिया चली है वे सब आपकी ही महिमा के तो गान है। ॐ तत् सत् परमात्मने नमः।

११ सितम्बर १९५८

मोहमे किये हुए वायदे मोहमे ही सत्य है। मोहके नष्ट होने पर उन वायदोका पिछलग्गूपना नही रह सकता। दु ख तो सारा मोहका है। मोह, स्नेह ही विपत्ति है। मोहस विपत्ति आती है यह तो दूरकी बात है। मोह ही क्या कम विडम्बना है ?

निमित्तनैमित्तिक भावसे जो कुछ होता है, होता है। कोई चाहे अमुक मुझपर प्रसन्न हो यह व्यर्थ, अनर्थ की क्रिया है। दूसरा प्रसन्न वह स्वयके अपने रागसे रहेगा। कोई चाहे अमुक इस प्रकार क्लिष्ट होजावे यह भी व्यर्थ, अनर्थको चिन्ता है। दूसरा दु.खी स्वय के अपने विभावसे होगा।

दूसरा दु.खी हो इससे कही किसी अन्यको लाभ नही है दूसरा सुखी हो इमसे भी कही किसी अन्यको लाभ नही है। हा इतना अवश्य है कि दूसरा दु खी हो ऐसा विचार विचारने वालेके खुदके सक्लेशके कारण होता है। अत परके प्रति अनिष्ट चिन्तन करने वाले को क्लेश एव आगामी क्लेशका उपाय कर लेना निश्चित है तथा जो ऐसा विचार करता है कि सब सुखी हो, उस शुभ विचार करनेवालेको खुदके विशुद्धभावके कारण आराम एव आगामी आराम का उपाय हो जाना निश्चित है।

मोही जीव कहता है प्रेमीको कि "हमारा तुम्हारा कठहरा (शरीर) तो जुदा जुदा है किन्तु आत्मा एक है। किन्तु भैया तीन काल मे कभी ऐसा तो हो भी सकता है कि उसके शरीरकी व इसके शरीरकी वर्गणायें मिलकर एक देह पिण्ड बन जावे परन्तु यह तो तीन कालमे कभी भी नही हो सकता कि

वह आत्मा व यह आत्मा मिलकर कभी एक बन जावे ।

१२ सितम्बर १९५८

जीवन जीवनमा पाया, शासन शासन ही पाया, अवसर अवसर पर पाया, सामर्थ्य सामर्थ्यका पाया । अब कल्याणके लिये विलम्ब करना समय खोना ही है ।

सयोग ही घोर दुःख है । लेना नही, देना नही, विपत्तियो की सीमा नही । मोहमे जीवको बाह्यसयोग रुचता है । निर्मोही जीवको मात्र आत्मतत्व रुचता है ।

मन, वचन, कायके यावत् योग है वे सब आस्रव हेतु है । ज्ञानमात्र मोक्ष हेतु हैं । ज्ञानी जीवके भी जो योग हैं वे तो आस्रवके ही हेतु ह साथ ही उसके ज्ञानका जो विकास है वह मोक्षका हेतु है ।

ऐसा नही है कि अज्ञानी के मन, वचन, कायका योग तो आस्रवका हेतु हो और ज्ञानीके मन, वचन, कायका योग मोक्षका हेतु हो । योग तो सर्वत्र आस्रव के हेतु है ।

आत्मतत्वके बारेमे भी जो मनसे चिन्तन कार्य है वहाँका योग भी आस्रव का हेतु है । हाँ उसके साथ ही जो ज्ञानविकास हे वह मोक्षका हेतु है ।

कल्याणार्थीको तो किसी अन्य व्यवस्था प्रसङ्गमे पडना अपनी उलझन बना लेना है । एक निज शुद्ध तत्त्वका उपयोग रहे इससे बढकर कुछ वैभव ही नही । बाह्य पदार्थको कर हीं कौन सकता हे, केवल विकल्प ही जीव बनाता है । ये ही विकल्प आपत्तिया है, आपत्तियो के कारण है ।

दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ।

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ।

१३ सितम्बर १९५८

जगतमे जितने द्रव्य है व सब अपनी अपनी परिणति से परिणमते ह फिर भी निमित्तनैमित्तिकभावसे अछूते कोई नही है । आत्मामे रागादि होते ह वे

आत्माके इस समय के परिणमन है किन्तु वे कर्मोदय के निमित्त विना नही होते। ऐसा नही है कि जब वे रागादि होते हैं तब उस समय जो कर्मोदय हो उसको निमित्त माना जाता है। मात्र माने जानेकी बात नही है। कर्मोदय को निमित्त पाकर रागादि भाव प्रादुर्भूत होते हैं। कर्मोदय आश्रयभूत बाह्य वस्तु के आश्रय भूत होने पर फलित होते है सो यदि कदाचित् आश्रयभूत प्रतिविशिष्ट बाह्य वस्तु न हो तो वहा वह कर्म फलित अन्य कर्मप्रकृतिरूपसे सक्रान्त होकर उदित होता है। यो ये विभाव होते है। इनमे यदि रन्च भी राग जावे तो सम्यक्तव नही होता।

अपनी परिणतिमे सतोप मानना, रागादि करके अपनेको कृतार्थ मानना, रागादि भाव होने पर उनका खेद न करना आदि अन्धवृत्तिया है। इन वृत्तियो से आत्मप्रकाश आवृत हो जाता है।

यदि परिणतिया रागादिककी हैं याने औदयिक हैं तो उन्हे परभाव समझे और अपना प्रत्यय करे कि मैं सहज निरपेक्ष चैतन्यशक्तिमात्र हूँ। यदि परिणतिया क्षायोपशमिक ज्ञान आदिकी हे तो उनमे भेद प्रत्यय करे कि ये औपाधिक है मै सहज निरपेक्ष चैतन्यशक्तिमात्र हूँ। यदि परिणति क्षायिक भी है तो वे भी वर्तमानपर्याय मात्र है हा यह अवश्य है कि वे पश्चात् भी प्रतिक्षण वैसी वैसी शुद्ध परणतिरूप होती है फिर भी वर्तमान क्षणिक हे उनमे भेद प्रत्यय करे कि ये अध्रुव है मैं ध्रुव सहज चैतन्यशक्तिमात्र हू।

१४ सितम्बर १९५८

वस्तुकी सिद्धि स्याद्वादसे होती है। स्याद् का अर्थ शायद नही है। किसी भी कोपमे या व्याकरण निष्पत्तिमे स्याद् का अर्थ शायद नही मिलता। स्याद् का अर्थ अपेक्षा है। अत स्याद्वाद सशयवाद नही है वह तो निश्चयवाद है। जैसे दादा, बाप, बेटा ये तीन पुरुष हे वे इसी क्रमसे खडे हो। उनमे से बीचमे बैठे हुए जवानको कहा जावे कि तुम बाप ही हो तो अपेक्षा लगाये बिना कहनेसे गलत होगया क्योकि बाप ही हो इसका अर्थ हुआ कि दादाके भी बाप हो व

बेटा के भी बाप हो, सबके बाप ही हो। यदि यहां अपेक्षा लगा दी जावे कि बेटा के बाप ही हो तो अपेक्षा बताकर कहनेसे वाक्य सत्य हो गया, ही सत्य हो गया। इसके साथ ही एक यह भी जानना आवश्यक है कि अपेक्षा लगाये बिना बोला जावे तो भी सही है। जैसे उस जवानको कहना तुम बाप भी हो याने बाप भी हो और नही भी हो। इसमे अपेक्षाकी बात अन्डर स्टुड है। एक बात यह भी विशेष है यदि अपेक्षा लगाकर 'भी' बोला जाय तो वह भी गलत हो जायगा। जैसे उस जवान को कहा जावे कि तुम बेटे की अपेक्षा बाप भी हो तो इसमे यह जाहिर हुआ कि बेटे की अपेक्षा कभी बाप नही भी हो, बेटा होओगे। स्याद्वादमे संशयको रंच स्थान नही है। स्याद्वाद निश्चयात्मक सिद्धांत है। स्याद्वादके बिना व्यवहार प्रवृत्ति व व्यवहारसिद्धि भी नही हो सकती। स्याद्वादका निषेध करने वाले भी रात दिन स्याद्वादके आशयसे ही काम लेते है।

१५ सितम्बर १९५८

पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है। यह बात सत्य है जब अपेक्षा नही लगा कर बोला यहां अपेक्षा अन्डर स्टुड है, समझ लेना चाहिए। यदि कहा जावे कि पदार्थ नित्य ही है तो यह असत्य हो जाएगा क्योंकि इसमे सर्वथा एकान्त आ गया यदि कहाजावे पदार्थ अनित्यही है तो यहभी असत्यहो जाएगा क्योंकि इसमे सर्वथा एकान्त आगया। यदि कहा जाये पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य भी है पूर्ण निर्णय हो सकता। संशयोका कितना भी समूह और द्रव्य दृष्टिसे अनित्य भी है ऐसा विचार हो सकनेमे यह भी अनुपयुक्त है। यदि कहा जावे कि पदार्थ पर्यायदृष्टिसे अनित्य भी है तो भी यहां यह अर्थ संभव है कि पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है और पर्यायदृष्टि नित्य भी है। ऐसा विचार हो सकनेसे यह भी अनुपयुक्त है।

स्याद्वाद संशयवाद नही है किन्तु निश्चयवाद है। यहां यह कहना उपयुक्त है कि पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है। जब अपेक्षा लगाकर कहा जावे तब एक होना ही चाहिये। द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर पदार्थ नित्य ही है ऐसा पूर्णनिश्चयात्मक वचन है। इसी प्रकार यहा यह कहना भी उपयुक्त है कि पदार्थ पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है।

स्याद्वादका अपरनाम अपेक्षावाद याने Relativity होता है। आपेक्षिक निर्णयोका समूह पूर्ण निर्णय हो सकता। संशयोका कितना भी समूह हो जाय वह निर्णय कहला ही नही सकता। स्याद्वाद के अमोघमन्त्र द्वारा व्यामोहविष दूर किया जा सकता है।

१६ सितम्बर १९५८

प्रश्न—केवली भगवान् भूत, भविस्य की पर्यायोको किस तरह जानते है ?

उत्तर— जैसेकि हम भविष्य की युक्ति व व्यवहार से निश्चित की हुई बातको जानते हैं उसमेसे कालकी उपाधि हटा दी जाय याने जैसे कि जानते हो कि परसो ऐसा होगा उसमे से परसो का सम्बन्ध हटादे फिर जैसी वह घटना मात्र काल निरपेक्ष जानने मे आरही है इस प्रकार प्रभुको आगेकी पर्याय भी वर्तमानवत् स्पष्ट हो रही है। यहा अपने ज्ञानसे पूरा मिलान नही करना केवल काल दृष्टि का विषय समझने के लिये यह विचार चल रहा है।

केवली भगवान् के ज्ञानमे भूत, भविष्य की पर्याये भी वर्तमान ही है, क्योकि उनके भूत, भविष्य सम्बन्धी कल्पना नही है। यद्यपि जैसे तिर्यक अवस्थित पदार्थ जैसे जहा है वैसे ही ज्ञात है किन्तु कल्पना नही है कि "अमुक पदार्थ इतना लम्बा चौडा है अथवा अमुक पदार्थ से अमुक पदार्थ इतनी दूर पर है" वैसे ही यद्यपि कालक्रमसे होनेवाली जैसी जो पर्याये हैं उस प्रकार प्रतिबिम्बित है किन्तु कल्पना नही है कि "अमुक पर्याय इतने विकसित अविभाग प्रतिच्छेद वाली है अथवा अमुक पर्याय अभी अदिश्यत्वी है अब वर्तमान होगई अथवा अमुक पर्यायके बाद अमुक पर्याय होगी आदी"।

अवस्था, दशा, अंश, परिणाम, परिणति, पर्याय, हालत, आविर्भाव, प्रादुर्भाव उत्पाद, वृत्ति, परिणमन, विकास, माया, आराम, विकार, जलवा, चमत्कार आदि किन्ही शब्दोसे कहो वह सब अध्रुव है उनमे आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है।

१७ सितम्बर १९५८

एक पदार्थ उतना होता है जिसका कि दूसरा भाग कभी भी न हो सके।

इस रीतिसे देखे तो शरीर एक चीज नही है किन्तु अनन्त परमाणुओका पुन्ज है। जब ये परमाणु भी परस्पर एक नही हो सकते, अपनी अपनी सत्ता अपने अपने मे रखते हैं तब यह चेतन आत्मा शरीरके साथ एक भेद कैसे हो सकता है। शरीर से आत्मा पृथक है। सच्चा पुरुषार्थ तो आत्मसिद्धिका है । जगत वैभव कितने भी हो किन्तु इनका भरोसा नही है। अन्तमे तो वियोग होता ही है। तत्त्व ज्ञानकी कमाई आगे भी काम आती है।

जीवका धन निर्मल परिणाम है। यदि निर्मलता नष्ट हुई, राग द्वेषका भाग आगया तो सर्व कुछ बरबाद होगया। जन्म तो अनेको होते है किन्तु सफल एव सारभूत वह जन्म है जिससे पाकर जीव अपने स्वरूपकी दृष्टि करले।

धर्म करते हुए भी जीवके प्राचीन सस्कार ऐसे बसे रहते है कि दुर्भावके निमित्त मिलने पर दुर्भाव मे पतित हो जाता है। अत चरवानु योगका आश्रय करना सदा लाभदायक है। विभाव परिणाम जीवकी माया है । मायामे बह जाने वाले जीवकी माया लम्बी होती चली जाती है। मायामे रहकर भी जीव माया न देखकर मात्र ब्रह्मस्वरूप देखे तो माया विलीन हो जाती है। मायाका रहस्य मायामय है, मायाका मूल मायामय है फिर भी मात्र मायामय कुछ नही है। माया मायामय होकर मूल तत्त्व मे अलग नही है। किन्तु माया मात्र को ही देखने वाले मायाकी दुनियामे रहते है और ब्रह्मत्त्वको देखने वाले माया से दूर हो जाते हैं।

१८ सितम्बर १९५८

परिग्रहके लक्षण व्यवहारके अर्थ वृत्तियोके भेद से अनेक हो जाते हैं—

(१) कृपणता सहित धनका सचय रखना।

(२) कृपणता सहित धनका सचय करना।

(३) आवश्यकतासे अधिक धनका सचय करना।

(४) आवश्यकतायें अधिक बढाकर उनकी पूर्तिका साधन करना।

(५) आवरू बढान के लिए खर्च बढाना व उनका साधन करना।

(६) आवरू बढाने के लिये अनेकोका खर्च उठाना व उनका साधन करना

(७) साधारण खर्च रखना व उसका साधन करना।

(८) स्वल्प सचितमे मे साधारण खर्चसे निर्वाहकर शेष समय परोपकारमे व्यतीत करना।

(९) भिक्षा वृत्तिसे जीवन निर्वाह करके वस्त्रादि स्वल्प परिग्रहसे निर्वाह करके स्व पर के उपकार मे समय व्यतीत करना।

नोट — उक्त सब परिग्रहकी हीनाधिकताके चिन्ह है। सर्वथा परिग्रहका त्याग निर्ग्रन्थ, समस्त परिग्रह रहित, शरीरकी ममतासे रहित शान्त पुरुषके होता है जिससे स्व व परका उपकार सहज होता रहता है।

बाह्यपरिग्रह यदि काम, क्रोध, मान, माया, लोभका निमित्त न बनता तो बाह्यपरिग्रहमे कुछ हानि न थी। किन्तु बाह्य परिग्रहका जो यत्न करे उसके काम, क्रोध, मान, माया, लोभ सभी विकार रह सकते है।

इन्द्रियाँ जिनका कि दास बनना सुगम हो गया है, ये इन्द्रिया ही मेरे प्रबल शत्रुता का काम कर रही है। इन्द्रियवृत्तिके पश्चात अति खेदखिन्न होता है इससे भला तो यह है कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमे रहकर इन्द्रियवृत्तियो को ही मौका न दिया जावे।

१६ सितम्बर १६५८

परिचित क्षेत्र राग द्वेपका विशेप निमित्त है। एक क्षण का मोह, राग, द्वेष सत्तर कोडा कोडी सागर तक स्थिति तकके कर्मबन्ध के हेतु हो जाते है। सो देखो एक क्षण की गलती का फल कोडा-कोडी सागरो तक भोगना पडता है।

अपराध करना आसान लगता है किन्तु इसका परिणाम भयकर है। अपराधी वास्तविकतासे वे सब ही है जो आत्मसिद्धि के विपरीत भाव मे लग रहे है।

मनुष्य जन्मकी सफलताका यत्न करने वाले को सत्सङ्गति, ध्यान, ज्ञानाभ्यास इन तीन यत्नोका करना आवश्यक है। अज्ञानीजनोकी सगति विडम्बनाका हेतु है, हित वहा लेश भी नही है। धर्म, कर्त्तव्य सब भूल जाया जाता है जब कुभावका प्रादुर्भाव होता है।

हे अरहत देव ! धन्य तुम्हारे स्वरूपको जन्म, जरा आदि दोषोसे रहित पूर्ण आत्मविकासका यह स्थान सर्वोत्कृष्ट सार है। इसी अलौकिक तत्त्वकी महिमा ज्ञानी जनो द्वारा गायी जाती थी जिसे सुनकर भिन्न भिन्न कल्पनाओ से ग्रस्त होकर धीरे धीरे देवके विषयमे मतभेद होते चले जिनका परिणाम आज नाना मजहबोके रूप मे दिख रहा है।

मजहब क्या है मजी हवायें है। प्राय सभी मजहब आदि से अन्त तक अपनी अपनी पद्धतिके परिष्कृत है। सत्य तत्त्व क्या है ? यह पहिचानना आज कठिन हो गया है। इसकी पहिचानके यत्नका कोई उपाय विशुद्ध नजर नही आता। ऐसी स्थितिमे कल्याणार्थी यदि सभी मजहबका रग भूलकर मात्र निज आत्मतत्त्व का सत्य आग्रह करके दृढ हो जावे तो स्वय शिवतत्त्व अबाधित रूपमे, समझ सकता है, किन्तु इसके लिये सर्व परतत्त्वोको भुला देने की हिम्मत चाहिये।

२० सितम्बर १९५८

आज दशलक्षण पर्वका चौथा दिवस है। दशलक्षण पर्व प्रतिवर्ष आये और किया भी कुछ न कुछ विशेष व्यवहार साधन किन्तु यह कहा जा सके कि गत वर्षसे आज क्या लाभ लिये हुए है तो इस बात के सोचने मे बहुत समय लगेगा और फिर भी यह सभव नही कि कहा जा सके कि अमुक लाभ ले लिया।

आत्मा का लाभ तो सब विचारो को भुलाकर, सर्व स्नेहो को तोडकर ज्ञानवृत्ति रूप परम विश्राम मे रहने का होता है। विषयो के और अनेक साधन जुट जाना, ख्याति लाभके और ढग बन जाना आदि कुछ लाभ की बात नही है इनमे तो आत्मविडम्बना ही सभव है।

जगत मे सार क्या है ? विषय प्रवृत्ति तो सार क्या, महती मूर्खता भरी विडम्बना हे। ख्यातिका तो अर्थ ही कुछ नही, विनाशीक असमान जातीय पर्यायो मे कुछ क्षण ऐसी प्रवृत्ति हो गई जिसे मूढजन सुनकर, देखकर, अन्दाज कर यह सोच वैठे कि मेरी वडी कीर्ति फैल रही हे वह असमान जातीय मूढ जनोकी प्रवृत्ति ही क्या तेरी ख्याति है।

न कुछ, असार जैसी बातो मे वह कर अति उत्कृष्ट चैतन्य महाप्रभुका तिरस्कार किया जा रहा है यह कितने पछतावेको बात हे। बात बोलने से भूख नही मिटती, भोजन के करने से मिटती, वैसे ही यह बात है तत्त्वचर्चा मे शान्ति नही होती, तत्त्व के आश्रयसे ही शान्ति हो सकती है।

हे शुद्ध अन्तस्तत्त्व ! तू स्वरूप दृष्टि द्वारा ही दृश्य है। तू वर्तमान मे ऐसा गुप्त हे जैसे कि दूधमे घी। तेरा विकास ही परमात्मत्व कहलाता है। तेरे विकासका उपाय विभावका न होने देना है। विभावके न होने देनेका उपाय विभावकी अरुचि है इसका उपाय भेदविज्ञान है। इसका उपाय प्रत्येक वस्तुके सत्य स्वरूपका परिज्ञान हे। हे तत्त्व ! जय।

२१ सितम्बर १९५८

सावधानी किसे कहते है। आत्मा के अवधानसे सहित जीवको सावधान कहते ह। सावधान जीव के भावको सावधानी कहते हैं। सावधान जीव के यह तत्त्वज्ञान सस्कृत रहता हे कि मैं इस वर्तमान परिणतिमात्र नही हू, क्योकि ये क्षणिक हे तथा औपाधिक होने से परभाव है, मैं एक ज्ञायकस्वरूप हूँ।

गृहस्थ कम से कम इन तीन प्रकार की साधनाओको तो अवश्य ही करे—
(१) आर्थिक आयके भीतर ही गुजारा करना, (२) अन्याय नही करना, (३) परनिन्दा नही करना। ये तीन साधनाये उन्नतिकी विशेष कारण है।

फल तो किसेका मिलता है। अशुभभाव करो तो उसका फल लो, शुभभाव करो तो उसका फल लो, शुद्धभाव हो जावे तो उसका फल लो।

यह नर जन्म अति कठिनाई से मिला हे। असख्यात पुद्गल परिवर्तनोमे

एक बार त्रसपर्यायका अवसर मिलता है जिनका काल अधिकसे अधिक दो हजार सागर हे। इस त्रसकालमे मनुष्यभव मिले ही मिले ऐसा कोई नियम नही यदि मनुष्यभव मिले तो अधिक से अधिक मनुष्य के २४ भव मिल सकते है जिसमे ८ भव नपुंसक के, ८ भव स्त्रीके व ८ भव पुरुष के हो सकते है। इनका फिर विशेष विचार करो तो अति दुर्लभता ही समझ मे आती हे।

ऐसा कठिन मनुष्यभवका अवसर पाया तो सर्वशक्ति लगाकर निज स्वरूपास्तित्वमे ज्ञायकताका अनुभव करो।

२२ सितम्बर १९५८

आत्मभूमिमे विकल्प आ धमकते है, रुकते ही नही। यह सब निमित्त नैमित्तिक भावका अडिग विधान है क्या।

निजके सम्बन्धमे ज्ञानभावना न हो तो औपाधिक उपद्रव होते ही है। जीवका सहाय अन्य कुछ है नही। बाह्य अनुकूल सामग्री मिले उसमे बेहोश हो जाना याने लुभ जाना अथवा अपने को ससहाय मानना एक वह अन्धकार है जिसके परिणाम मे दुर्गति ही हाथ आती है।

मै ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, सर्वसे विविक्त हूँ अपने स्वरूपास्तित्वमय हूँ, निजगुण पर्यायमय हूँ आदि शुद्ध भावना ही जीव को शरण है।

जीवका स्वरूप नयपक्षसे अतिक्रान्त है। नयपक्षसे अतिक्रान्त अनुभव यद्यपि प्रमाणरूप है तथापि इस अनुभवका प्रयत्न या उपाय प्रमाणविकल्प नही है। तब नयपक्षसे अतिक्रान्त स्वरूपको अनुभवका उपाय क्या है ? निश्चयनय है। इस निश्चयनय के प्रयोगकालमे प्रयोक्ता प्रमाण की प्रतीतिसे रहित नही है अन्यथा वह निश्चयनय न रहकर निश्चयाभास हो जायगा। निश्चयनयका प्रयोग अनुभवके कालमे नही है वह तो शुद्ध प्रमाण रूप परिणमन हे। निश्चयनय एकत्वमे लेजाकर चैतन्यभावमे स्थापित कर सहज आनन्दको उत्पन्न करके स्वय तो निवृत्त हो जाता है और निवृत्त होते ही उपयोगको नयपक्षसे अतिक्रान्त कर देता हे नयपक्षसे अतिक्रान्त ध्रुव तत्व परमार्थ है उसकी

प्राप्तिका उपाय उक्त प्रकारसे निश्चयनय है। अतएव निश्चयनयको भूतार्थ कहते है।

२३ सितम्बर १९५८

प्रमाणप्रयत्न स्वानुभवका उपाय क्यो नही है ? प्रमाण २ रूप है (१) व्यवहार रूप, (२) अनुभव रूप। व्यवहाररूप। प्रमाणको तो प्रमाणात्मक व्यवहार कहते है, अनुभवरूप प्रमाणको ज्ञेय प्रतिबिम्बमात्र प्रमाण कहते है। प्रमाण यद्यपि निश्चयको ग्रहण करता है तथापि वह व्यवहार, विविधता उपनय व अन्ययोगका व्यवच्छेद तो नही करता अत प्रमाणविकल्प द्वैतताको रोकनेमे समर्थ नही है अतएव च प्रमाणविकल्प आत्माको निर्विकल्प स्वरूपमे स्थापित करनेमे अशक्त है।

निश्चयनयका विषय अभेद व अनुपचरित है, व्यवहारनयका विषय भेद व उपचार है। प्रमाणका विषय दोनो नयके विषय है। निश्चनयका विषय एक है, व्यवहारनयके विषय अनेक हैं, प्रमाणके विषय दोनो है। निश्चयनयका विषय अभेद अनुपचरित एक होने से परमार्थ है, व्यवहारनयका विषय भेद, उपचार व अनेक होनेसे अपरमार्थ है प्रमाणके विषय दोनो नयके विषय हैं।

व्यवहार भी एक अपेक्षा है, निश्चय भी एक अपेक्षा है, प्रमाणमे तो अपेक्षाये हैं ही। व्यवहारमे उप अपेक्षायें है, प्रमाणमे उपअपेक्षाये भरी हैं, निश्चयमे उपअपेक्षा नही है। अथवा यो कहे कि व्यवहारमे अन्य स्यात् अनेक है, प्रमाणमे अन्य स्यात्का आच्छेद नही, निश्चयमे अन्य कोई स्यात् नही होती निश्चयनयकी दृष्टिका उपकार अनुपम है।

२४ सितम्बर १९५८

जैसे व्यवहार ने कहा कि आत्मामे ज्ञान है तो मुकाबिलेमे यह भी कह सकते है कि आत्मामे दर्शन भी है, चरित्र भी है आदि। यहां एक "स्यात्" के लगाने अनेक स्यात् आपतित हो जाते है। किन्तु, निश्चयनयसे देखा कि आत्मा नित्य स्वरूपमात्र वस्तु है तो उसके मुकाबिलेमे अन्य और क्या कहा

जा सकता है। यहा एक "स्यात्" के नयमे अन्य "स्यात्" नही चलती।

व्यवहारनयकी अपेक्षामे अन्य अपेक्षायें भी व्यवहारनयकी होती हैं। निश्चयनयकी नही अत मात्र व्यवहार आदेय नही है। प्रमाणमे जो अपेक्षायें होती हैं। वे व्यवहारकी अपेक्षाके मुकाविलेमे निश्चयनयकी अपेक्षायें भी रहती है अत प्रमाण आदेय है। यह प्रमाण प्रमाणात्मक व्यवहार कहलाता है। निश्चयनयकी अपेक्षामे अन्य कोई अपेक्षा होती ही नही अत यह नय एकत्वमे लेजाकर उपयोगको ज्ञानभावमे स्थापित कर देता यह नय आदेयतम है। ज्ञेय प्रतिविम्वरूप अथवा निर्विकल्प स्वानुभव रूप प्रमाण आदेयता का फल है।

होनहार आत्मा पहिले तो व्यवहार मात्रमे तो था ही व होता है पश्चात् निश्चयनयको समभता है, पश्चात् प्रमाणरूप करता है, पश्चात् निश्चयनयका आश्रय करता है, पश्चात् वह प्रमाणरूप रह जाता है। निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान।

२५ सितम्बर १९५८

ससारी जीवो की क्रियाये तो सफल होती हैं और भगवानकी क्रिया निष्फल होती है। क्रिया परिणतिको कहते है। ससारी जीवो की परिणतिका फल कर्मवन्ध व ससार वृद्धि है और भगवानकी परिणतिका फल कर्मवन्ध व समारभाव है ही नही। ससारी जीवोकी परिणतिका फल तिर्यन्च, नारक, देव, मनुष्य पर्यायका होना है। मुक्त जीवोंकी परिणतिका फल तिर्यन्च, नारक, देव, मनुष्य पर्याय विलकुल असभव है। अत ससारी जीवो की क्रियाये तो सफल होती है और मुक्त जीवोकी क्रियाये निष्फल होती है।

ससारी जीवो को दुख अपनी परिणतिका है। अन्य कोई पदार्थ न सुख देता है और न दुख देता है। परिणति हे उस उस क्षणकी एक एक हालत उसे जो आत्मतत्त्वरूपसे श्रद्धान्न करता है वह तो दुखियोका शिरमौर है और जो आत्मतत्त्वरूपमे श्रद्धान करता है तथा इसही के परिणाम स्वरूप निज

ज्ञायक स्वभावके उन्मुख होता है वह है सुखियो का शिरमौर।

किसी भी जीवका कोई अन्य जीव या पुद्गल आदि रक्षा करने मे समर्थ नही है। खुद ही खुदकी रक्षा कर मकता है। जिमे अपनी उन्नति दशा चाहिये, आनन्ददशा चाहिये उसका कर्त्तव्य है कि वह तत्त्वज्ञान व सदाचरणमे लग जावे। ऐसा करते हुए कदाचित् विघ्न अथवा आपदाये उपस्थित हो इनको सहन करने की हिम्मत वना लेवे किन्तु स्वलक्ष्यसे भ्रष्ट न होवे।

२६ सितम्बर १९५८

आज अनन्त चतुर्दशी है, यह जैन समाज द्वारा अतिपवित्र दिन माना जाता है। जो जैन कभी भी मन्दिर दर्शन करने नही आता या आ पाता वह भी आजके दिन दर्शन करने अवश्य आता है। अनेको लोग इस दिन उपवास करते है जिनमे अधिकतर ऐसे भी है जो अन्य किन्ही दिनोमे उपवास तो क्या एकाशन करनेमे भी असमर्थ है ऐसे पवित्र इस पर्व दिनमे सामूहिक रूपमे देखा यह जाता है कि वर्ष भर की जो कषाय एकत्रित्र की समाज प्रसङ्गमे, वह विकसित की जाती हैं और इतना ही नही, अगले वर्षके लिये मन मुटाव बनाये रखने के लिये जड पक्की कर ली जाती है। इसके कई कारण है— (१) झूठा, कषायित धार्मिक जोश जिससेकि इस दिन निकलने वाले रथ या जल कलश या जलूस की व्यवस्थामे अहमहमिकासे काम लिया जाता है, (२) मन्दिर व अन्य सस्थावोके हिसाव किताव की जाच, रिपोर्ट आदि पेश होना क्योकि जनसमूह इतना अन्य समय मिलना अशक्य है अथवा नया चदा इस दिन अच्छा मिल जाता है इस प्रसगमे चन्दा देने वाले, दिलाने वाले देखने वाले हिसाव सुनना चाहते है (३) सस्थावो, मन्दिर आदिके प्रबन्धके लिये सदस्य व पदाधिकारियो का चुनाव होना।

धन्य है हे अनन्त चतुर्दशी! तेरी गोदमे अनेको लोग तो धर्मलाभ लेते हैं और उनसे सहस्रो गुने लोग सक्लेशलाभ लेते है।

२७ सितम्बर १९५८

किसी व्यक्ति पर अन्याय न करने वाला शान्त रह सकता है, सुखी रह

सकता है। अन्याय करना अच्छा नही है। जो पुरुष अबला जानकर स्त्रीपर अन्याय करते है अथवा जो व्यक्ति किसी को निर्बल जानकर उस पर अन्याय करते हैं वे अन्तमे तिरस्कृत होते है दु खी होते हैं।

जैन सिद्धान्तमे सब प्रथम मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य इन तीनका त्याग बताया हे। बहुत ही मौलिक प्रारम्भिक उपदेश है।

मिथ्यात्वसे तो मारा अन्धकार ही छा जाता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूप का जिन्हे पता नही वे बेचारे उपयोगको किम मत्यपर ठहरावेगे। अतएव च वे शान्त होनेका सदुपाय भी प्राप्त नही कर सकते।

अन्याय तीव्र क्रोध व लोभ आये विना नही किया जाता। अन्यायका मूल क्रोध व लोभ है। उनमे भी सूक्ष्मतासे विचार करो तो लोभ ही लोभ है। लोग लोभ वश पर जीवपर अन्याय तो कर जाते किन्तु कषायवश होनेके कारण अन्याय हुआ अत मक्लिष्ट रहते है तथा साथ ही ज्ञानभी तो बता रहा कि यह अनुचित कर्त्तव्य किया हे सो पछताते रहते हैं।

अभक्ष्यभक्षणका मूल तो मिथ्यात्व व अन्याय दोनो ही हैं। किसी जीवका वध कर देना उनका माम खाना कैसा अमानवीय कार्य है इस पर जिन ा ध्यान ही नही जाता वे कैसे शान्ति मार्ग ढू ढ मकते है।

मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्यका त्याग हो शान्ति की पहली सीढिया है।

२८ सितम्बर १६५८

विश्वास बडे महत्त्वकी बात है। जिस मनुष्यका विश्वास उतर गया उस को फिर आराम का साधन नही रहता। मनुष्य अपने दुराचरणसे विश्वासच्युत हो जाता हे। अपनी इज्जत अपने आचरण पर निर्भर है। लोग मनुष्यका आदर नही करते किन्तु सार आचरणका आदर करते हैं।

कोई मनुष्य यह सोचे कि मेरा आदर खूब हो रहा है तो उसकी यह मूर्खता है। चामका कौन आदर करता है आचरणकाही लोग आदर करते है। जिसका आदर होता है वह आचरणसे गिरकर देख मकता है कि आदर मेरा

होता था कि आचरणका। ऐसा करनकी आवश्यकता नही है दुनियामे अनेको लोग ऐसे मिलेगे भी जो पहिले आदृत थे, दुनिया उनके चरणो मे शिर झुकाती थी। किन्तु अब आचरणसे गिरजाने के कारण कोई नही बूझता उन्हे उदाहरण करके अपने पर भी ऐसा निश्चय करके वह मूढता छोड देना चाहिये जिसमे यह भाव किया जाता है कि मेरा आदर हो रहा है।

मोतीकी आभ व मनुष्यकी आभ प्राय समान है एक बार आभ उतर जाने पर दुबारा आभ आना असभव नही तो कठिन अवश्य है।

सबसे अधिक ऐब है तो २ है— (१) मलपिण्ड पर प्रेम होना, (२) नामवरीकी चाह होना। मलपिण्ड तो जल जाना है उसका मोह तो प्रगट पागलपन है। तथा, क्षणिक असमान जातीय पर्यायकी असार जगतमे असार भाव द्वारा ख्याति बनानेका मिथ्याभाव भी प्रकट पागलपन है।

२६ सितम्बर १६५८

समस्त पदार्थ अपनी अपनी योग्ताके अनुकूल परिणमते है। कोई भी पदार्थ तेरे लिये नही परिणमता, फिर अनुकूल प्रतिकूल माननेकी बात तो दूर ही रही।

जब भी तुम दुखी होते हो अपने अपराधसे दुखी होते हो। खुद तो अपने स्वभावकी उपासनामे रह नही पाते और इसी कारण पर पदार्थके उन्मुख होते और अपनी रुचिके अनुकूल इष्ट अनिष्टका विकल्प बनाकर दुखी होते।

दुख मेटना है तो अक्षीसण ज्ञानापयोगका यत्न करो। जीवका ठौर बाहर नही है। बाहरके पदार्थोंमे हितबुद्धि व विश्वासके भ्रमसे ही अबतक ससार बन रहा है। निज ससारसे मुक्त होनेके लिये सर्वसे विभक्त व ज्ञानमय निजतत्वकी प्रतीति हो अमोघ औषधि है जो कर्मसघातको भस्म करनेमे समर्थ है। अपने कल्याणकी भावना होना सच्ची दया है, सच्चा व्रत है।

जीवको सुख होना ज्ञानसे ही सभव है। जब यथार्थ ज्ञान होता है।

तभी आकुलता दूर भाग जाती है। आकुलता पर पदार्थो से सम्बन्ध मानने की बुद्धि मे होती है। यथार्थ ज्ञान वस्तुका स्वतन्त्र स्वरूप बताता है जिसके भान होने पर पदार्थोंमे सम्बन्धबुद्धि रहती ही नही। सम्यग्ज्ञानके यत्नमे अधिक प्रयत्नशील रहना चाहिये। वाह्य समागमसे आत्माका पूरा नही पडता।

३० सितम्बर १९५८

त्याग उत्तम वही है जहा पर द्रव्यकी आशा व प्रतीक्षा नही होती। आशाका काल तो लम्बा होता है, प्रतीक्षाका काल अधिक लम्बा नही होता। जिस पदार्थका आशा सफल नजर आती है प्रतीक्षा तो उसकी होती है। और आशा सफल नजर आती हो तो और न नजर आती हो तो भी जिस चाहे पदार्थकी आशा अपने मनकी रुचिके अनुकूल होने लगती है।

जिसे अपने स्वरूपका भान नही और अतएव अपने आनन्द का अनुभव नही ऐसा टोराघसीटा ही पर पदार्थकी आशा व प्रतीक्षामे जीवन बरबाद करता है, ज्ञानी जन तो ज्ञानबलसे सत्यकी पहिचान करते है और अतएव प्रत्येक पदार्थोंके विभक्त निज निज स्वरूपास्तित्वको प्रतीतिके कारण अपने परमात्मतत्त्व की उपासना करके अपने क्षण सफल करते है।

सबसे अधिक दोष तो नामवरीकी चाह का है। यह जगत् असार है, यह समागम क्षणिक है, यह मनुज देहमे आया हुआ अथवा मनुष्य पर्यायका नाटक करता हुआ भाव भी अध्रुव है। फिर, यहा नामवरीकी चाह का परिणमन होना क्या निरा पागलपन नही है।

जो मनुष्य टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावकी उपासनामे सावधान है वे सत्पुरुष है। ऐसे आत्मार्थी ही मङ्गल मूर्ति हैं।

जगतकी ओरका आकर्षण महती विपदा है। विपदाओके बादल घिरे हो उस झझटसे छूटनेका उपाय सुगम व स्वाधीन है। वह है मात्र निज परमात्म तत्त्व के दर्शन।

१ अक्टूबर १९५८

नवम्बर मासका प्रोग्राम इस प्रकार रहेगा, जिस प्रोग्राम मे मौन लिखा है

उक्त प्रोग्राममें मौन होगा। पहिले छूट रखने पर व अतिदूरसे किसी के मिलने को आने पर व गुरुजीके समीप मौनकी छूट रहेगी।

प्रात	४- ५ तक	स्वाध्याय	मौन
"	५- ६। तक	सामायिक प्रतिक्रमण	मौन
"	६।- ७॥ तक	पर्यटन, देह सेवा, स्नान	मौन
"	७॥- ८ तक	वन्दन, भजन	मौन
"	८- ९ तक	प्रवचन, पाठन	×
"	९-१० तक	आध्यात्मिक ग्रन्थ पाठ	मौन
"	१०-११ तक	चर्या, विश्राम आहारपर्यन्त मौन बाद	×
"	११-११॥ तक	डायरी या पत्र लेखन	मौन
मध्यान्ह	११॥-१२॥ तक	सामायिक, स्तोत्र पाठ	मौन
"	१२॥- २॥ तक	निबन्धन (लेखन)	मौन
"	२॥- ३ तक	विश्राम	मौन
"	३- ३॥ तक	शास्त्र सभा में या लेखन	×
"	३॥- ४। तक	चर्चा	×
"	४।- ४॥ तक	पाठन	मौन
सायं	४॥-५॥ तक	पर्यटनादि	मौन
"	५॥-६॥ तक	सामायिक	मौन
"	६॥-८ तक	स्वाध्याय	मौन
रात्रि	८-८॥ तक	भजनध्यानादि	मौन
"	८॥-९॥ तक	प्रवचन व जिज्ञासायोग	×
"	९॥-[illegible] तक	विश्राम, चिन्तन, शयन	मौन

२ अक्टूबर १९५८

[illegible] स्वावलम्बि[illegible] है। [illegible]
[illegible] है।

निज सरल, सुगम, सहज ज्ञायक स्वरूपको भूल कर औपाधिक भावमे आत्मबुद्धि करके निजविकासका घातकर अपने आप पर अनन्त क्रोध किया। समस्त जीव प्रत्येकसे अत्यन्त जुदे है वे चाहे कोई एक घरमे इकट्ठे हुए हो अथवा विखरे विखरे अनेको स्थलो पर हो। प्रत्येक आत्मा अन्य सर्वजीवोसे विभक्त है। उनको (जो कि ज्ञेय होने के कारण प्रतिभासमे अवश आपतित होते है) विषय करके बनाये गये परभाव की रुचि ही घोर अन्धकार है। निज प्रकाश, निजरुचि, निजसयतताका परिणाम ही सच्चीक्षमा है। जहा ये सधे वह सत्सङ्ग है जहाँ इनमे वाधा आवे वह असत्सङ्ग है।

इसका तो सुपरिचय हो ही गया कि शान्तिका कारण सद्भाव है। सद्भाव का मूल तत्त्वज्ञान है, तत्त्वज्ञानका उपाय अध्यात्मशास्त्राभ्यास है। स्वहित के अर्थ शास्त्राभ्यासमे रुचि रखना आद्य कर्त्तव्य है।

प्रत्येक आत्मा स्वयं शरण है, परके मार्फत अशरण है। जीवका जब उदय अनुकूल होता है तब सब ही प्राय. इच्छानुकूल प्रवृत्ति करते है और जब उदय प्रतिकूल होता है तब अच्छा चाहते हुए अथवा अच्छा न चाहतेहुए सबकी प्रवृत्ति इच्छाप्रतिकूल हो जाती है।

यह सर्व विवर्त इस ही कारण इन्द्रजाल है। सबसे उच्चविवेक यह ही है कि पुण्योदय होने पर भी सामग्रीको भिन्न तत्त्व समझते हुए उसमे मग्न न होना व सात्त्विक रहन सहन रखकर धर्ममार्गमे, ज्ञानाभ्यासमे अधिक उत्साह रखना।

३ अक्टूबर १९५८

जिस नयके द्वारसे चेतन्नमात्र निजवस्तुपर पहुच हो वह नय प्रयोजनवान है। सो, साक्षात् उपाय तो परमशुद्धनिश्चयनय है और निकट परम्परारूप उपाय अशुद्धनिश्चय नय या शुद्धनिश्चयनय या व्यवहारनय इनमेसे कोई भी हो सकता है यह व्यवहारनय हो तो एकदेशशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिका नेता हो इतनी विशेषता है कि परिज्ञान व प्रतीति इन सर्वनयोकी यथार्थ होना चाहिए।

कोई जीव अशुद्धनिश्चयनय द्वारसे चल रहा है उसका उस समय आशय है

यह आत्मा रागादिरूप परिणाम रहा है, अपने परिणमनसे परिणाम रहा है इसरूप आत्मशक्तिया हो रही है इस निज एकत्व दृष्टिसे देखता हुआ जीव उपाधि पर दृष्टि न होनेसे निसर्गत इन परिणामोके स्रोतरूप चैतन्यभाव पर पहुँचता है और उसे भी चेतन मे अभेद अनुभूत करके चेतनामात्रनिज वस्तुपर पहुच जाता है।

कोई जीव शुद्धनिश्चयनय द्वार स चल रहा है उसका उस समय आशय हे परमात्मा शुद्धविकासरूप परिणाम रहा है, अपने परिणमन से परिणमरहा है, इस रूप आत्मशक्तिया हो रही है इस एक निजएकत्वदृष्टिसे देखता हुआ जीव स्वभावानुरूप विकासपर दृष्टि होनेसे सुगमतया इन परिणमोके स्रोतरूप चैतन्यभावपर पहुचता है और त्वरित निजस्वभावको चेतनमे अभेद अनुभूत करके चेतनामात्र निजवस्तु पर पहुच जाता हे।

कोई जीव एकदेशशुद्धनिश्चयात्मक व्यवहारनय द्वारसे चलता है वह रागादि भावको कर्मके देखता है। वहा आत्मा रागादि रहित शुद्ध चैतन्यमात्रकी ओर झुकता हुआ शीघ्र निरपेक्ष आत्मस्वभावपर पहुचता है और उसे भी चेतनमे अभेद अनुभूत करके चेतनामात्र निज वस्तु पर पहुच जाता है।

४ अक्टूबर १९५८

मुझ आत्मा का विश्व के अन्य समस्त पदार्थो के साथ ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है। आत्मामे ऐसी कला है कि वह प्रतिभासरूप अर्थ ग्रहण करे, आत्मा उन्हे जाने ऐसी कला हे। आत्मा पर पदार्थों के विषयमात्र करके विकल्प करे यह भी कला हो सकती है, परपदार्थो के प्रति ऐसा ख्याल बनावे कि यह मेरा है यह भी कला आत्मामे हो सकती हे। परन्तु पर कोई भी पदार्थ आत्माका हो जाय ऐसी कला न आत्मा मे है न किसी पदार्थमे है।

मेरा किसी भी अन्य द्रव्यके साथ चाहे वह शरीर हो, कर्म हो या अन्य कुछ हो, स्वस्वामी सम्बन्ध है ही नही। किसी भी द्रव्यका किसी भी अन्य द्रव्य के साथ स्वस्वामित्व सम्बन्ध नही है।

मै मात्र ज्ञायकस्वभाव हूँ सो भी स्वभावसे, किसी पर पदार्थके कारण नही। पर पदार्थ जानने मे आते है आवो, किन्तु जानना पर पदार्थके कारण नही किन्तु आत्म शक्तिके कारण है। निश्चयत तो हम किसी अन्य पदार्थ को जानते भी नही है। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुण मात्र खुदमे परिणमते है। ज्ञान गुणका परिणमन भी ज्ञान अथवा आत्मामे ही होता है उसका फल भी स्वय है। इस प्रकार आत्मा मात्र आत्म परिणमनको जानता है जो कि अन्य पदार्थो के प्रतिभासरूप हुआ है। आत्मा जानता तो खुद पर वीती हुई परिणतिको और व्यवहार मे वर्णन किया जाता है पर पदार्थो को वताते हुए।

हे निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव। तुममे तुम्हारे परिणमनरूप विचित्र लीलाओ के मोही तुम्हे नही पाते किन्तु लीलाओ मे अमुग्ध जीव तुम्हारे पाग ही रहा करते है।

५ अक्टूबर १९५८

यह आत्मा विश्वरूपताको धारण करके भी एक रूपता को नही छोडता हुआ रहना है। आत्मा व ज्ञान स्वभावी है और समस्त पदार्थ ज्ञेयस्वभावी है जैसे दर्पण झलकाने स्वभाव रूप है और घटपटादि झलक जाये ऐसे स्वभावरूप है। यदि दर्पण मलिन है तो पदार्थ न झलके या कम झलके निन्तु दर्पण अति स्वच्छ है, योग्य है तो उसे झलकाने से कौन रोक सकता है। सामने आये हुये को झलकानेसे कौन रोक सकता हे, आत्मा ज्ञायक स्वभावी है समस्त पदार्थ ज्ञेयस्वभावी है। आत्मा यदि निर्मल है तो सद्भूत पदार्थो को जानने से उसे कौन रोक सकता है।

समस्त पदार्थ प्रतिभासमे आये तव ज्ञान समस्त ज्ञेयाकाररूप हुआ। वहा भेद ही क्या किया जा सकता हे कि वह इस ज्ञेयाकार रूप हे, वह तो युगपद् समस्त विश्वज्ञेयाकाररूप है। ऐसा होनेपर भी आत्मा सहज एक ज्ञायक स्वभावरूप ही है वह नानास्वभावरूप नही हो गया।

जन्म जन्मकृत पाप जन्मकोटिसमार्जितम्।
जन्ममृत्युजरामूल हन्यते जिनवन्दनात्॥

जन्म जन्मकृत पाप जन्म कोटिसमार्जितम् ।
जन्ममृत्युजरामूल हन्यते निजदर्शनात ।।

धर्म प्राप्तिके लिये सीधी सादी वात इतनीही है कि किसी भी परविषयक राग, द्वेष मोह न हो । निजत्व मे तो राग, द्वेष, मोह होता नही । लो, आत्म-धर्मका विकास हो गया ।

६ अक्टूबर १६५८

आत्मद्रव्यके स्वरूपका विशद ज्ञान चारित्रकी सिद्धि होने पर होता है और चारित्रकी सिद्धि आत्मद्रव्यके स्वरूप के विशद ज्ञान होने पर होता है । आत्मद्रव्य का विशद अनुभव व निर्विकल्प ध्यान रूप चारित्र विकास दोनो का एकसाथ अभ्युदय है । चारित्र चरित्रगुण के विकासको कहते है अतः चारित्र शरीर आदि पर पदार्थकी क्रिया से उत्पन्न नही होता वह तो चारित्र शक्तिके परिणमनसे ही होता है ।

आत्मद्रव्य का अनुभव क्या है ? सहज आनन्दका परिणमन है । यह उपयोग की उपयोग मे स्थिरता बिना असम्भव है ।

उपयोग की उपयोग मे स्थिरता क्या है ? आत्मद्रव्य का परिज्ञान करते रहना है । यह आत्म द्रव्यकी सिद्धि बिना असभव है ।

पर द्रव्योमे बिलकुल उपेक्षाभव धारण करो । अनादि कालसे भटकते हुये सुयोगवश श्रेष्ठ जन्म पाया इसको सफल करो । मैं मनुष्य नही हू । किन्तु मात्र चैतन्यस्वभावी निजस्वरूपास्तित्वमय हू । इस प्रतीति के वलसे विकल्पोका विध्वस करो । क्रान्ति कर सकने लायक अवसर पाया है । पर पदार्थो का समागम अनादिसे रहा हदसे हद उसी एक भव तक रहा और विघट गया निगोद रह रहकर वही पैदा हुये तो क्या, उसको भी नव्य नव्य समागम है । अथवा, नया समागम कुछ भी नही बारबार भोगा और छोडा ऐसा झूठा वैभव है ।

आत्मतत्व को देखो अति पवित्र अपनी गुण पर्यायोमे रत है जिसकी दृष्टि के प्रसादसे दुर्निवार कर्मशत्रु भी ध्वस्त हो जाते हैं ।

७ अक्टूबर १९५८

कल रात्रिको सहारनपुर समाजमे वर्ष भरसे चला आ रहा विसवाद बडी सहृदयतामे समाप्त होगया है। इसके प्रसङ्गमे श्री बा० ऋषभदास जी मेरठ वालोका प्रयत्न बडा सराहनीय रहा।

जडता किसे कहते हैं ? चतुराई होनेपर भी अनभ्यास होनेको जडता कहते है। देखो—आत्माके जाननेकी चतुराई सबमे है, किन्तु प्रमाद किया जावे तो इसको जडता नही कहेगे क्या ? कहेगे, यह जडता ही है। पर को जानने का क्षयोपशम योग्य हो चाहे न हो किन्तु जो सञ्ज्ञी हुआ है उसका क्षयोपशम सबको जाननेका है ही। पहिला काम तो क्षयोपशमका स्वको जाननेका है पर की बात तो बादकी है कि कितने परको जाननेका क्षयोपशम है ? यहा हम पर की ओर उपयोग लगाकर भी पर को जान हो ले इतना क्षयोपशम है क्या इसमे सदेह है, हो भी न भी हो, परन्तु स्वकी ओर उपयोग लगावे तो स्व जानने मे न आये उसके जाननेका क्षयोपशमश न हो यह बात नही है। सञ्ज्ञी जीव हुआ तो उसके क्षयोपशमे आत्मबोधकी योग्यताकी बात तो पहिले ही निहित है।

इतना सुयोग होने पर भी आत्मबोधकी ओर न लगे उसके उपायभूत तत्व ज्ञानाभ्यास न करे तो इसे जडता न कही जावे ?

स्वात्मबोधके बाधको मे सबसे प्रधान बाधक है ख्यातिकी चाह। इस ऐबको हटानेके सर्वदार्शनिकोने अपनी युक्तियाँ अमोघ सोची। सर्व सार तत्वकी बात तो यह है कि पर दृष्टि दूर होकर स्वात्मानन्दमे विश्राम हो।

८ अक्टूबर १९५८

श्री जिनवरवृषभ परमात्माने स्वयका अनन्त विकास पाया यह अनन्त आनन्दमय है। इनका नमस्कार ज्ञानी उद्देश्य विना नही करते। परमात्माके नमस्कारका उद्देश्य परमात्माके गुणविकास व गुणकी उपासना रूप भावाश्रम मे विश्राम करना है। इस भावाश्रममे विश्राम करना भी निरुद्देश्य नही है इसका

उद्देश्य निजश्रामण्यकी प्राप्ति है। निजश्रामण्यको प्राप्ति स्वय विधेय है इसके आगे उद्देश्यकी खोज फिर भी इसका परिणाम निर्वाणकी प्राप्ति है।

जिस जो रुच जाता है उसकी साधनामे, उसकी पूर्तिमे यह जीव वेगपूर्वक जुट जाता है ऐसे चारित्र गुणके परिणमनकी टेक है। यदि व्यसन रुच गया तो सर्वप्रयत्नसे व्यसनमे जुट जाता है। यदि भक्ति रुचि तो सर्व प्रयत्नसे भक्तिमे जुट जाता है। यदि परनिवृत्तिमूलक आर प्रवृत्ति रुचि तो सर्व प्रयत्नपूर्वक आत्मोपासनामे जुट जाता है। स्वभावरुचिवाले आत्माको वन्धुजनोसे वैभवसे निवृत्ति लेनेमे कुछ भी सकोच नही होता है।

आत्मानुभव ही सार है, इसमे ही सहज, परम आनन्द है। हे स्वानुभूति देवते! तुम्हारे प्रसादमे ही सब आनन्द है। हे स्वानुभूति देवते! तेरी आराधना परम देवत्वके विकासका बीज है। हे स्वानुभूति देवते! जगतके सन्यासी, योगी, परिव्राजक, मुनि, साधु, त्यागी, विवेकी राजा, सद-गृहस्थ आदि तेरी ही प्रसन्नताके लिये सर्वयत्न करते है। धन्य हे स्वानुभूते! जयवत होओ स्वानुभूते ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ शुद्ध चिदस्मि

९ अक्टूबर १९५८

विकल्प करना व्यर्थ है, क्योकि विकल्प तो किसी परिणतिको आशासे सम्बन्ध रखता हुआ होता है सो परिणति तो जो होनी है सो ही होनी है। यद्यपि वह बाह्य अन्तरङ्ग साधन पूर्वक होगा फिर भी सर्वज्ञ व विशिष्ट ज्ञानी द्वारा तो दृष्ट है ही फिर फेरफारका क्या काम? कर भी कौन सकता है? अत विकल्प करना व्यर्थका व्यायाम है अर्थात् विकल्पसे परकी सिद्धि नही है।

हिम्मत करो। लौकिक बडेसे भी बडा काम हो उसकी प्रतिष्ठा न कर विकल्प से पराङमुख हो जावो।

आत्माका आत्मा ही जनक (पिता) है क्योकि यही आत्मा स्वयके परिणमन की धारा बनाता है और यही अपनी रक्षा करता है, आत्मा का आत्मा ही सुत (पुत्र) है क्योकि यही उपयोग स्वरूप आत्मातत्त्व इस ही चेतनामात्र वस्तु से उत्पन्न होता है। आत्माका आत्मा ही गुरु है क्योकि आत्मा अपने

उपयोग द्वाराही शिक्षा पाता है। आत्माका आत्मानुभूति ही स्त्री (रमणी) हो क्योंकि आत्माको रमानेवाली आत्माकी अनुभूति ही है। आत्मा ही स्वयके लिये सर्वस्व है। सच तो यह है कि तीन लोककी विभूति भी एकत्रित हो तो भी वह आत्माके किसी परिणमनको करनेमे समर्थ नही है।

वह समय धन्य है जिस समय आत्माका उपयोग निज ज्ञायक स्वभावमे लग जाता है। ज्ञायक स्वभावकी रुचि, प्रतीति, अनुभूति ही आत्माका रक्षक त्रिदेवता है। उत्पादव्ययध्रौव्य ब्रह्ममहेशविष्णुरूप यह आत्मा उक्त दत्ताश्रम की शरणमे रहकर निराकुल रहे।

१० अक्टूबर १९५८

नियम सप्तदशी

वालको के लिये १७ नियम

अच्छा, सुखमय जीवन वनाने के लिये इन नियमो का पालन करो

(१) प्रात काल जल्दी उठकर णमोकारमन्त्रका जाप करना।
(२) शिक्षक, माता, पिता, भाई आदि गुरुजनोको प्रणाम करना।
(३) गुरुजनोसे पढते समय पढनेमे ही चित्त लगाना।
(४) रोजका पाठ रोज ही पूरी तरहसे याद कर लेना।
(५) चौवीस घण्टेका लिखित ठीक प्रोगाम वनाकर उसके अनुसार चलना।
(६) सवसे यथायोग्य विनयपूर्वक उत्तमसे उत्तम वात वोलना।
(७) कमसे कम एक धार्मिक ग्रन्थका प्रतिदिन अध्ययन, मनन करना।
(८) हिंसारहित, सादा भोजन यथायोग्य कमसे कम वार करके सतुष्ट रहना
(९) यथाशक्ति दीन दु खी जनोका उपकार करते रहना।
(१०) पराई किसी भी वस्तुको नही चाहना, न उसकी आशा करना।
(११) गुस्सा, घमण्ड, मायाचार व तृष्णासे दूर रहनेका भाव वनाना।
(१२) कारणवश कषाय अधिक हो जाय उस समय मौन रखना।
(१३) सिनेमाघर, नाटकघर, वेश्यागृह आदि कुस्थानोमे नही जाना।
(१४) भग, तमाखू, अफीम, आदि नशीली चीजोका इस्तेमाल नही करना।

(१५) चमडेका थेला, चैन, बक्स, टोपी, कोट आदि वस्तुवोका उपयोग न करना
(१६) रेशमी, बहुत पतला सूती, चटकीला वस्त्र नही पहिनना ।
(१७) आतिशबाजी, फटाका फोडना आदि हिंसाजनक विनोद कभी नही करना।
नोट— उक्त नियमसप्तदशो, बालक, युवा सभीके लिये करना उपयोगी है।
इसके अनुसार चलनेसे जीवन सुखमय रहेगा ।

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ।

११ अक्टूबर १९५८

कषाय ही शत्रु है । अन्य पदार्थ कोई शत्रु नही है। इस जीवका रक्षक दूसरा कौन है ? अन्य कौन इसकी परिणति कर सकता है ? न तो कोई किसी अन्यका सुधार कर सकता है और न कोई बिगाड कर सकता है। अपने अपने परिणामके अनुसार ही जीव सुख अथवा दु खके भाव बनाता है।

कषायसे किसी अन्य पुरुषकी हानि है क्या ? कषायमे तो जीव अन्धा हो जाता है । कषायान्ध, कामान्ध, कामनान्ध पुरुष अन्धोसे भी अधिक अन्धा है। अन्धापन तो अविवेक है । अविवेकी ही वास्तविक अन्धा है। चक्षुका अन्धा तो अनेको सज्जनोका आदरणीय हो जाता है, परन्तु अविवेक वाला अन्धा आदरणीय तो होता ही नही प्रत्युत लोकोके लिये दु खकारी हो जाता है।

हे अविवेक दुर्भट! तुम मोहियोके शिर पर मोहके बल पर ही तो नाचा करते हो। यदि मोह नष्ट कर दिया गया तो तुम्हारी क्या हालत होगी । गर्वाओ मत । शिर उठाकर चलने वाला धरतीमे समा जाया करता है ।

सम्यग्दृष्टि किसी विकल्पमे नही अटकता । निर्विकल्प परिणामके साधकतम रूप निश्चय विकल्पमे भी नही अटकता वह। परमाणुमात्र भी रागमे आत्मीयता नही होती है ज्ञानीजनके।

यह आत्मतत्त्व अज्ञानियोको अव्यक्त है ज्ञानियोको स्वसवेद्य है । आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानमयको ज्ञानमय आत्मासे ही जानना है। आत्माका आत्मा ही

सर्वस्व है। अन्य किसीकी शरण लेना, सोचना सब विपरीत मार्ग है। आत्माका शरण खुद आत्मा है।

१२ अक्टूबर १९५८

अशुभ विकल्पोको मत आने दो। इसका उपाय क्या है? शुभ विकल्प। शुभ विकल्प भी मत आने दो। इसका उपाय क्या है? शुभ विकल्प। अरे यह क्या बात है कि अशुभ विकल्प मेटनेका उपाय भी शुभ विकल्प और शुभ विकल्पक मेटनेका उपाय भी शुभ विकल्प। शुभ विकल्प शुभ विकल्पमे भी तो अन्तर है पहिले उनका मर्म समझ लो। यहा आप बुद्धिगत उपाय पूछ रहे है कि कारण कार्य विधान? बुद्धिगत उपाय तो अशुभोपयोगकी निवृत्तिका शुभोपयोग ही है क्योकि अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग तो किसीके न तो आया और न कभी आ सकता। अब चलो शुभोपयोगके विकल्पकी निवृत्तिके उपायमे। शुभविकल्पके बाद यद्यपि शुद्धोपयोग आ सकता है किन्तु जब वह आयेगा तब सहज आवेगा उसके पहिलेके परिणाम तक पहुँच जानेका कोई बुद्धिगत उपाय है। उसी उपाय की यहा विवक्षा है। कारण कार्य विधानका प्रसङ्ग तो बहुत लम्बा है। वह तो पद्धतिमे होता ही है।

मुनि जन व्रत, तप, आचारोके प्रति भी यही भावना रखते है कि हे व्रतो, तपस्याओ आचारो! तुम इस शुद्ध आत्माके कुछ नही हो फिर भी मैं तुमको तब तक धारण करता हूँ जब तक मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त न कर लू।

सम्यक्त्वकी यह कला है कि उसके प्रसादसे जो पर पदार्थ समागममे है और जो विभावपरिणति आत्मामे है वह सब कुछ नही रुचता, कुछ नही लजतीका भान रहता है। गृहस्थके पास जो पदार्थ है, विभाव है वह उसे नही रुचता। साधुके पास जो पदार्थ है, विभाव है वह उसे नही रुचता। क्योकि सम्यक्त्वरत्नके प्रसादसे आनन्द मूर्ति, ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन होते है।

१३ अक्टूबर १९५८

चोर दो तरहके होते है। एक सफेद पोश और दूसरे डरपोक। यहा ससारी-

जन, सभी लौकिकजन सफेद पोश चोर है अध्यात्मदृष्टिसे। क्योंकि, है तो प्रत्येक पदार्थ किसी भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न पदार्थ, उसके होते तो है नही, और जबर्दस्ती मानते हे अपना। यह सफेद पोशी चोरी नही है तो और है क्या।

आत्मा ज्ञानमय है। वह मात्र ज्ञानसे गम्य है। ज्ञान परिणमन ज्ञानगुणसे ही उठता है। इस स्रोतकी उपासना ज्ञानानुभवका उपाय है। स्रोत भी ज्ञानमय है, उपासना भी ज्ञानमय है, ज्ञानानुभव भी ज्ञानमय है। सब ज्ञानममता विलास है यहा उल्लास है यही।

हे ज्ञानमूर्ते! तुम नय पक्षसे अतिक्रान्त हो, जब तक व्यवहारका विकल्प है तुम्हारे दर्शन तो क्या निकट भी नही पहुच पाते और जब तक निश्चयका विकल्प है तब तक भी तुम्हारे दर्शन नही होते।

हे आनन्दमूर्ते! तुम प्रत्येक विकल्पसे अतिक्रान्त हो, विकल्प द्वारा गम्य नही हो। विकल्प है जब तक मनका सुख इन्द्रियका सुख तो अनुभव किया जा सकता है आत्मीय सहज आनन्दका अनुभव नही किया जा सकता।

दुखी तो कोई नही है, दुखी तो बनते फिरते हे। बताओ क्या दुख हे किसीको? पाच हजार रुपया कम हो गये है तो क्या विपदा आगई, बताओ तो सही तुम तो पूरेके पूरे बैठे हो, तुममेसे क्या कम हो गया है। विकल्प करके व्यर्थ ही दुखी होरहे हो। विकल्प छूटे कि लो, यही सुखी होगये। विकल्प छूटनेका उपाय सम्यग्ज्ञान हे।

१४ अक्टूबर १९५८

प्रश्न— अनुदिश व पाच अनुत्तर विमानवासी देवोमे अनन्तानुबधी ४ कषाय की विसयोजना क्यो होती हे? उत्तर— क्षयोपशम सम्यक्त्वके होते हुए भी अध करण अपूर्वकरण अनिवृत्ति करण परिणाम होकर अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना हो सकती है अत इन सम्यग्दृष्टि देवोमे ४ की विसयोजना हो जाती। प्रश्न— कार्माणकाय योगमे, विग्रह गतिमे सम्यक्प्रकृति का क्षय कैसे हो जाता है

क्या सम्यक्प्रकतिके क्षयको या समय शेप रहने पर भी मरण हो जाता है ?
उत्तर—"किसी जीवके ऐसा भी सभव होता है ऐसा जीव मरकर देवगतिमे जाने वाला ही मिलेगा।

शुद्ध पर्यायके प्रकट होनेमे हो भला है। शुद्ध पर्याय कैसे प्रकट होगी ? शुद्ध द्रव्यकी उपासनासे शुद्ध पर्याय प्रकट होगा। केवल ज्ञान शुद्ध ज्ञान परिणमन है वह कैस प्रकट होगा ? शुद्ध ज्ञानमात्र चेनन वस्तुकी उपासना से प्रकट होगा।

कुछ अपनी विशेप सुध लो, शुद्ध ज्ञानमय चेतना मात्र निज आत्मतत्त्वकी आराधनासे जीवन सफल करो।

कर्मोदयके समय यदि वशकी बात चले तो बात यह ही चल सकती है कि कर्मोदय मिमित्तक जो विभव होते हैं उनको पृथक समझो याने उन विभावोसे विलक्षण स्वरूप वाले शुद्ध चेतना मात्र वस्तुकी प्रतीति रखो।

चैतन्य महा प्रभुके दर्शन मात्रसे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह ये सारे चोर यो भाग जाते ह जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार भाग जाता है।

१५ अक्टूबर १९५८

जिन्होने पाचो इन्द्रिय व मन इन छ करणोके दोप रहित ब्रह्मचर्यका पालन कर लिया वे सत्य पुरुष दर्शनीय है। भोगोका भोगना तो आसान है किन्तु भोगोका छोडना तप द्वारा साध्य है। इच्छाओका रोकना, अपने आपके स्वरूपमे प्रसन्न रहना सो तप है। इस तपके बिना ब्रह्मचर्य सिद्धी कठिन हे।

जीवन कितने दिनका है ? करने योग्य काम विकल्प नही हे। विकल्पसे तो आत्मघात है। विकल्प तेरा स्वरूप नही है, विकल्प औपाधिक है, अचेतन है। निर्विकल्प स्थितिमे होने वाला ज्ञानानुभव निश्चयत चेतन है। ज्ञानानुभवके लिये होने वाला स्वभावाविरुद्ध ज्ञान भी चेतन है। जो आत्माको अचेत करने वाले विकल्प हैं वे चेतन कैसे ! चेतनमे होते हे अत चेतना भास है। हे आत्मन् अचेत होनेमे तो आनन्द नही अचेतपना छोड।

क्या है तेरा तेरे स्वरूपसे वाहिर। वाहर कुछ मत देख, वाहर देखनेका फल आकुलता ही है। मैं किसी भी पर द्रव्य रूप नही हूँ। परको विषय मात्र वना कर होने वाले सुख दुःख रूप भी मैं नही हू। परकी जानकारीको लिये हुए होने वाले विकल्प रूप भी मैं नही हूँ। इन सव रूपमे मैं नही हूँ। इस लहदे होने वाले विकल्प रूप भी मैं नही हूँ मात्र त्रैकालिक अखण्ड शुद्ध चेतना मात्र वस्तु मैं हूँ किन्तु इस विषयक विकल्प रूप मैं नही हूँ। मैं अनिर्वचनीय किन्तु मात्र स्वसवेदन सवेद्य हूँ।

हे परम तत्त्व, हे परम करुण, हे परम शुद्ध, हे परम पुरुष, हे परमात्मन्, हे परमानन्दमम, हे परम बुद्ध, हे परम सत्य! मेरे ज्ञान पथ गामी होओ। तेरी ही कहानी सव दार्शनिकोके उपयोगमे चली है, किन्तु तेरा मर्म जिन्होने पाया वे धन्य होगये।

१६ अक्टूबर १६५८

सत्य शिव सुन्दरम्। निज सत्मे निरपेक्षतया होने वाला तत्त्व ही कल्याण स्वरूप है, कल्याणका मूल है, कल्याणका कर्ता है।

नर जन्म वडा दुर्लभ है, पाया तो इसका उपयोग शीघ्र ठीक कर लेना जरूरी है। कितनी आयु वीत गई, वाहरके क्या क्या विकल्प किये, वाहरके किस पदार्थने साथ दिया। रही सही जिन्दगी भी यदि यो ही चली जावेगी तो लाभ क्या मिलेगा ?

गृहस्थके छ कर्तव्योके निभानेकी ऐसी पद्धति होनी चाहिये देव पूजा परमात्माके स्वच्छ व्यक्त स्वरूपकी ओर व झटिति निज चैतन्य स्वभावकी ओर इस प्रकार दोनो ओर उपयोगको वर्तते रहना जैसेकि साधु छठे व सातवे गुण स्थानमे अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त वाद झूलते रहते है।

गुरुपास्ति-ऐसे विनम्र, सरल, शिवपथके अनुमोदक धर्म स्नेह पूर्ण वचनो सहित गुरुकी सगतिमे रहना, उनकी वैयावृत्य करना व गुण हृदयमे रखकर ऐसे भीगे हुए रहना कि शुद्ध भावके अङ्कुर शीघ्र जम सके।

स्वाध्याय-प्रत्येक वाक्योके रहस्यार्थको अपने आपके सम्वन्धमे घटाते जाना।

सयम-विपय, कपाय व ग्रहितकी निवृत्तिका उद्देश्य रखते हुए, निरखते हुए प्राणसयम व इन्द्रियसयमका पालन करना।

तप-पुण्योदयानुकूल प्राप्त आयके भीतर ही व्ययकी व्यवस्था कर उतनेमे ही सतुष्ट रहकर अधिक उपयोगकी इच्छा न करना और यथा शक्ति धर्मसाधन करना।

दान-गुणानुराग व स्वपरहितोत्साहपूर्वक दान करना।

१७ अक्टूबर १९५८

हे परमात्मन्! तेरे सर्वज्ञत्व, वीतरागत्वके द्वारसे चलकर स्वभावमहिमाके महलमे प्रवेश करके ऐसी ही निजनिधिके प्राप्त होनेका सुयोग मिलता है अत तेरी उपासना हितकारिणी है। हे अरिहत! तुम मोह रूपी अरिके हनन करने वाले हो अत मोहके हननके इच्छुक जनोके आप ही उपास्य हो। हे अरहत आप अतिस्वच्छ विकासके कारण पूर्ण योग्य हो, पूज्य हो अत स्वच्छ विकासके इच्छुक जनोके आप ही उपास्य हो। हे अरहत! आपकी ऐसी महिमा है कि अब कर्म और विभाव आपमे उग नही सकते, प्ररोहको प्राप्त नही होसकते अत कर्म व विभावसे सर्वथा प्रमुक्त रहनेके लिये जहाकि ये कलङ्क फिर उग भी न सके, ऐसी निर्मलताके इच्छुकोके आप ही उपास्य हो। हे अरहत! अर्थात अ=अरि, र=रज, र=रहस याने मोह अरि, ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप रज, रहस अन्तराय इन चार घातक कर्मोंके घात करने वाले परम देव! आपने इन चार घातिया कर्मोका घात कर सहज आनन्दका अनुभवन प्राप्त किया हैं अत घातियाकर्मोंके घातके इच्छुक जनोके आप ही उपास्य है।

हे देव! आपके ही शासन पर चलकर हित पाया जा सकता है। आपका शासन है, आदेश है कि अपने आपको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, आदिमद यान्तविमुक्त देखो।

१८ अक्टूबर १९५८

अपने स्वरूपसे बाह्य स्वरूप वाले पदार्थोके ग्रहणकी बुद्धि ही एक विडम्बना है। सारे क्लेश परिग्रहवादमे है। जीवको क्लेश क्या है। खानेको मिलता, शीत-

रक्षाको कपडे मिलते इतना तो करीब सब मनुष्योको है। जिन्हे नही है वे इतने दु खी नही होते जितनेकि वैभव आराम वाले दु खी होते है। यह भी एक विडम्बना देखो।

हे तृष्णे ! तू जीर्ण नही होती, आयु जीर्ण हो जाये चाहे। गृहस्थ जन गृहस्थीके कामके पदार्थोकी तृष्णा बढाते जाते और सस्था वाले सस्था की उन्नति मे तृष्णा बढाते है। नेता नामवरीकी उन्नतिमे तृष्णा बढाते है। इन तृष्णाओ की इतनी प्रबलता हो जाती है कि पहिले सकल्प की हुई सीमाका भी उल्लङ्घन हो जाता।

हे आत्मन् ! ज्ञानघन आनन्दमूर्ति निरपेक्ष निज स्वभाव मम चैतन्य प्रभु की महिमा ले देख। रूपरसगन्ध स्पर्शमय पुद्गलके टुकडोको देख देख क्यो अचेत हो रहा है।

योग्य आचार, व्यवहार एव निष्कामता ही उन्नति है। महान् बन कर गुप्त रहना निष्कण्टक पदकी वृत्ति है।

जब जब विभावकी परेशानी हो, शीघ्र उसके सक्लेशमे पिण्ड छुटानेका उपाय औपाधिक भावोको पर भाव और चैतन्य स्वभावको निजभाव जान लेना है उसे करो।

हे मन ! दु खी न होओ। दु ख तो इतना ही कर रहे हो ना कि किसीको अपने प्रतिकूल सोचते और सक्लेश करते। निजको निज परको पर जान फिर दु खका नहि लेश निदान। दु खका कारण परका परिणमन नही किन्तु स्वरूप विरुद्ध विचार है।

१६ अक्टूबर १६५८

मौन लिये हुए आज शामको ५ बजे ६६ घन्टे हो रहे है और सकल्पित समय ३६ घन्टे और रहे है, परन्तु मनो योगमे कोई अन्तर नही। अन्तरङ्गमे लाभ हो तो मौनका सदुपयोग है। हाँ इतना अवश्य हो रहा कि बोल न सकनेके कारण कई बाते आकर शीघ्र चली जाती है।

भले प्रकार आत्मदया हो जाय तब शिवपथकी बाते सब सुगम हो सकती है।

पर पदार्थके सग्रहसे मिल क्या जाता आत्माको। आत्मातो सदा निजके भावोका ही कर्ता होता है। परात्म बुद्धिमे केवल विकल्प ही तो हाथ लगा। विकल्पमे क्या सिद्धि है। विकल्प ही स्वय असिद्धि है।

निजका सचय करो, निजका सग्रह करो, निजकी बात बनावो, निजकी बात बढावो, निजका काम करो, निजका क्लेश हरो, निजके शत्रुसे डरो, निजमे उपयोग धरो।

आनन्द तो अभी भी तैयार बैठा है आनेको, प्रतीक्षा भी कर रहा है। किन्तु आनेका ढग भी तो करना चाहिये कुछ।

आनन्द पानेकी कुञ्जी ममत्वत्याग है। ममतत्वत्याग सम्यग्ज्ञान विना नही हो सकता। सम्याज्ञानका मूल भेद विज्ञान है। भेद विज्ञानके लिये वस्तु-स्वरूपका ज्ञान करना चाहिये वस्तुस्वरूप जाननेके लिये एक पदार्थको ही जिसको स्वरूपकी जिज्ञासा हुई हो, जानना चाहिये।

पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है एव भावना। इस परसे सारे विस्तार समझ लेना चाहिये।

२० अक्टूबर १९५८

परिग्रहभाव ही विपदा है। कोई परिग्रहभावको तो छोडे नही और शान्ति की चाह व कोशिश करे तो तीन कालमे भी सफलता नहीं मिल सकती। परका अस्तित्व परमे ही है उसमे अन्य कोई कर ही क्या सकता है।

भगवानके ज्ञानमे तो झलक ही चुका जो जब होना है फिर ले होनीकी जिज्ञासा करके आकुलित होना मात्र व्यामोह है।

अपनेको सभालना नही और पर दृष्टि किये रहना यह ही अपना आत्म-घात है। चाहे दैहिक आराम न हो, बाह्य समागम न हो, किन्तु अपने आपको सभाले रहना रहे तो यही दृष्टि अमृत पान है।

पापके उदयमे कोई साथी नही हो सकता। जव कोई साथी होता तब वहा खुदके पुण्यका उदय प्रवल कारण है। फिर वात ही क्या रही अन्यके अहसान की अथवा किसी पर कुदृष्टि करनेकी।

सकोचमे आकर अपने कर्तव्यसे च्युत होना विवेक नही है। इसके लिये आवश्यक है कि लोगोसे सेवा कम लेवे। लोगोसे सेवा लेना ही सकोचका प्रधान कारण है।

अत्यन्त नि स्पृह व्यक्ति ही साधु है। पूर्ण नि स्पृहतामे उसका वाह्यरूप भी क्या हो जाता है उसीको तो दिगम्बर मुद्रा कहते है।

शान्तिका उपाय नि स्पृहता ही है, आत्मधर्म नि स्पृहता ही है। यह नि स्पृहता वास्तविक कैसे होती हे इसका उपाय है भेदविज्ञान। भेदविज्ञानका उपाय है वस्तुका निरपेक्ष स्वभाव समझ लेना।

२१ अक्टूबर १९५८

आज चौधरयात मुहल्लामे धर्मशिक्षासदनका उद्घाटन हुआ। धर्मके प्रति वालकोकी अव भी रुचि ठीक है, किन्तु उनके पालक जनोका इस ओर ध्यान कम जाता है।

वाह्य पदार्थका ऐसा ही परिणमन होना चाहिये इस विकल्पका मूल व्यामोह हे। वाह्य जव मुझसे वाह्य ही है तो वह कैसा ही परिणमे, विकल्प करनेसे स्वयको लाभ क्या है ? प्रश्न हो सकता हे कि किसी जीवके कल्याण परिणमन की वात चाहना तो वुरी नही है ? ठीक है, साधारणतया ठीक है, फिर भी सूक्ष्मतया विचार करे तो वह भी तो वाह्यविपयक विकल्प हे उससे भी अलाभ ही रहा। जितने अशामे राग है, विकल्प हे उतने अशोमे अलाभ ही है।

वस्तुत वाह्यका विकल्प नही होता किन्तु वह विकल्प आत्माका ही उस योग्यतामे वैसा परिणमन है वहा वाह्य वस्तु तो मात्र आश्रयभूत है, और कर्मोदय मात्र निमित्तभूत हे।

२२ अक्टूबर १९५८

निश्चयनयका अवलम्बन नही करना है, किन्तु निश्चयनयके विषयभूत अखण्ड तत्त्वका अवलम्बन करना है। निश्चयनय एक विकल्प है, अभिप्राय है, परिणमन है उसका अवलम्बन पर्यायदृष्टिका फल है। जहा केवल निश्चयनयका कथन है और उसके विषयभूत तत्त्वका अवलम्बन ही नही होता वहा उस प्रसङ्ग को पर्यायदृष्टि जानना चाहिये। निश्चयनयकी कथनीके अधिक प्रोग्राम रखे रहनेमे यह पर्यायदृष्टि सभव है।

सन्मार्ग यह है कि व्यवहारनयके विषयका विरोध न करके मध्यस्था होकर निश्चयनयके विषयके अवलम्बन द्वारा मो को दूर करना चाहिये।

व्यवहारनयका विषय झूठ नही है। व्यवहारनय कहता है कि ससारीजीव कर्म व जो कमसे वद्ध है तो क्या यह झूठ है ? झूठ है तो वताने वाले आत्मा ही जरा २ गज खिसक कर दूसरी जगह पहुँच जावे और शरीर वही रखा रहने देवे। ऐसा कर देवे। क्यो नही कर पाता इस लिये कि इस समय शरीर व जीव परस्पर वन्धा हुआ है। यह वन्धना विलक्षण है। जीव अमूर्त है व शरीर मूर्त है अत इन दोनोका वन्धना एक विलक्षण वात है इसे निमित्त नैमित्तिक भाव कहते। पुरुषार्थ तो यहा यह करना है कि जीव व कर्म सघे रहे उस स्थितिमे भी मात्र आत्मस्वरूपको देखना है जानना है। ऐसा क्रिया भी जा सकता, सो केवल आत्माको देखे जावे तो उसके वन्धन शिथिल हो जाते हैं।

२३ अक्टूबर १९५८

अहा अमृतपान ! निज एकत्वदृष्टि ही अमृतपान है।

मै आत्मा ही कर्ता हूँ, मै आत्मा ही करण हूँ, मै आत्मा ही कर्म हूँ, मै आत्मा ही कर्मफल हू। ऐसा वास्तविक परिज्ञान अमृतपान करनेका पात्र (वर्तन) है। यह मर्म तव समझमे वहुत ही जल्दी आजाता है जव यह सुविदित हो जायकि आत्माका कर्म क्या हो सकता है। आत्माका कर्म वह है जो आत्माके द्वारा किया जा सके। आत्माके द्वारा क्या किया जा सकता है ? केवल

आत्मगुणोके परिणमन। जैसे आत्मामे श्रद्धा गुण हे तो आत्मा श्रद्धा गुणका परिणमन करता है। वह चाहे मम्यक्त्वरूप हो चाहे मिथ्यात्वरूप चाहे मिश्र चाहे अनुभय। करता है श्रद्धाका परिणमन। आत्मामे ज्ञान गुण है तो आत्मा ज्ञान गुणका परिणमन करता हे वह चाहे मतिज्ञान हो, श्रुत ज्ञान आदि कोई हो। आत्मामे चरित्र गुण हे तो आत्मा चरित्र गुणका परिणमन करता है चाहे वह कपायरूप परिणमे चाहे अकषाय या सयम रूप परिणमे।

जव निज परिणमन ही कर्म है यह ज्ञात हो जाय तब यही निज आत्मा करण हे, साधकतम है यह शीघ्र ज्ञात हो जाता हे। उस परिणमनका फल या तो आकुलता है या अनाकुलता है वह भी आत्माका परिणमन है वही कर्मफल है। इस तरह कर्मफल भी वही आत्मा होगया।

जो आत्मा अपनेको ही कर्ता, अपनेको ही करण, अपनेको ही कर्म व अपनेको ही कर्मफल निश्चित करता हे वह पर द्रव्यको नही परिणमता है और तव पर द्रव्यसे अत्यन्त परे निज आत्मतत्त्वके अनुभवका पात्र होता है।

२४ अक्टूबर १९५८

प्रश्न— कालाणु अनन्त क्यो नही है ? जवकि परमाणु अनन्त है तब प्रत्येक परमाणुके परिणमनका निमित्तभूत काल द्रव्य भी अनन्त होना चाहिये ?

उत्तर— आकाशके एक प्रदेशपर जो एक कालाणु है वह उन सब परमाणुओके परिणमनका निमित्त है जितने कि परमाणु उस एक प्रदेशपर स्थित है। अत कालाणु उतने होते हैं जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं। अलोकाकाशके परिणमनको कालाणुकी वहाँ आवश्यकता यो नही कि आकाश एक अखण्ड द्रव्य हे सो लोकाकाशका परिणमन और अलोकाकाशका परिणमन ऐसे दो परिणमन नही है। आकाशका परिणमन हे उसके लिये निमित्तभूत काल द्रव्य लोकाकाशमे है ही।

प्रश्न आगे यह हो सकता है कि जैसे लोकाकाशके परिणमनको लोकाकाशके सर्व प्रदेशोपर काल द्रव्य है इसी प्रकार अलोकाकाशके सब प्रदेशोपर भी काल

द्रव्य हो जाते तो क्या हानि थी । उत्तर यह है— कि लोकाकाशके सब प्रदेशोके परिणमनके लिये लोकाकाशमे सर्वत्र काल द्रव्य है यह बात नही, किन्तु लोका-काशमे सर्वत्र जीव पुद्गल है उनके परिणमनके लिये निमित्तभूत काल द्रव्य समस्त लोकमे हैं । धर्म, अधर्म व आकाश इन तीनोके परिणमनके लिये निमित्त भूत काल द्रव्य है तो अवश्य किन्तु सँभावनामात्रमे यह कल्पना हो सकती है कि कदाचित् काल द्रव्य लोकाकाशके किसी हिस्सेमे ही स्थित होता तो भी इन तीन अखण्ड अस्तिकायोका पूर्ण निर्बाध परिणमन होता ही रहता ।

२५ अक्टूबर १६५८

प्राणियोको जो भी सुख, दु ख होता है वह अपने अपने कर्मोदयसे होता है । प्राणी जो भी भाव करते है खोटे अथवा अच्छे, उनका फल जीव भोगता ही है, कभी भोगे । हाँ ऐसा भी होता कि न भोगे किन्तु ऐसा जीव है अति विरल । ज्ञानी आत्मा ही ऐसे होते हैं जो ज्ञानवलसे पूर्ववद्ध कर्मोको विना फल दिये ही खिरा देते हैं । हो, हाँ तो प्राय यही सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथ्य है कि प्राणीजो भाव करते हैं उनका फल भोगते ही है । विवेकी पुरुप वही है जो इस ससारसे भय करे ।

कोई दु खी होता है तो वह अपने विभाव अपराधसे दु खी होता है उसे दु ख किसी अन्य जीवसे नही हुआ है । अन्य जीवसे मुझे दु ख हुआ ऐसी कल्पना यदि आवे तो यह कल्पना ही वडी विपत्ति है । अन्यके विरोधमे चिन्तन या कोई आरम्भ न करना चाहिये किन्तु निजकी उस विपत्तिको मैंटना चाहिये । वस्तुस्वरूपके विरुद्ध कल्पना मुझमे क्यो उठी इसका प्रखर विचार करना चाहिये और ज्ञानवल वढाकर इस कल्पनाको मैंटना चाहिये । यह काम सवसे पहिला, सवसे वडा पडा हुआ है ।

हे आत्मन् ! अपने पर कुछ तो दया करो । अव तक दु खी हुए अपने अप-राधसे ही तो दु.खी हुए । कर्मोदयज भाव हुए अर्थात कर्मविपाकप्रभव भाव हुए उसको तुमने निजसर्वस्व मान लिया लो, दु खी होगये । कर्मविपाकप्रभव होते

है उन्हे तुम जानते आ रहे और देखो—ये औपाधिक भाव मेरे स्वभाव नही, मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव-रूप हूँ। इस पद्धतिकी परिपतिको बनाये तो रहो जब तक निर्विकल्प स्वसवेदन न हो। कुछ तो अपने पर दया करो। ॐ तत् सत् परमात्मने नम ।

२६ अक्टूबर १९५८

अध्यात्मरसिको के लिये रुचिकर आध्यात्मिक गद्यमय बारह भावना—

१- मनुष्य आदि पर्याय मरती है, चेतना मात्र मे आत्म वस्तु नही मरता हूँ।

२- मनुष्य, देव आदि मुझे कोई शरण नही है चेतना मात्र मे आत्मवस्तु स्वय को शरण दू ।

३- रागादि सर्व विभाव आकुलता रूप है, चेतनामात्र मे आत्मवस्तु स्वय अनाकुल स्वरूप है।

४- निजभावो मे अकेला ही परिणमता हूँ, क्योकि चेतनामात्र मे मात्र आत्म-वस्तु एक स्वरूप हूँ।

५- तन सुत कर्म आदि मेरे कुछ नही है, क्योकि चेतनामात्र मे अन्य सबसे विभक्त हूँ।

६- देह व विभाव अशुचि है चेतनामात्र मे आत्मवस्तु शाश्वतु शुचि हूँ।

७- औपाधिक भाव आश्रव है, चेतनामात्र मे आत्मवस्तु सहज अनास्रव हूँ।

८- सवर का हेतु निजस्वभावदृष्टि है, क्योकि चेतनामात्र मे आत्मवस्तु सहज सवर स्वरूप हूँ।

९- शुद्ध आत्माके उपयोगसे कर्मनिर्जरा होती है, चेतनामात्र मैं आत्मवस्तु कर्म से स्वत दूर हू।

१०- पर्यायत लोकमे अज्ञानसे सर्वत्र जन्मा, रहा, चेतनामात्र मैं आत्मवस्तु अपनेमे ही रहता हूँ।

११- वैभव सब सुलभ है किन्तु इस निजका दर्शन दुर्लभ है जो कि चेतनामात्र मैं आत्म वस्तु स्वत.सिद्ध हूँ।

१२- जिसका आश्रयरूप धर्म पूर्णानन्दमय है वह चेतनामात्र मैं आत्म वस्तु सहज सुगम हूँ।

भावना भवनाशिनी
भावना भववर्द्धिनी
भावना कृतिकारिणी
भावना चिति साधिनी

ॐ भूर्भुव स्वरिह भावनैव जीवमात्रेति स्वमङ्गलाय शुद्ध स्व भावयामि।

२७ अक्टूबर १९५८

जिसे जीवनका मोह है वह आत्म पुरुपार्थ क्या करेगा। पर्यायबुद्धिमे ही जीवनका मोह हुआ करता। मैं चेतन्यमात्र तत्व हू, जीवन तो मेरा अपराव है। मैं मनुष्य ही नही हूँ, मनुष्य देह ही क्या सभी देह मेरी विडम्बनाये है। मैं अमुक जाति वाला भी नही, जाति तो आचारविचारव्यवहार परम्परात् कृत्र सामाजिक व्यवस्थाका परिणाम है।

मैं चेतन हूँ, निराकार हू, अमूर्त हूँ, परिचितोसे अपरिचित हू, यथार्थ परिचितोसे परिचित हू, अपरिचितोसे सर्वथा अपरिचित हूँ। मेरा जीवन लोकके लिये मेरा जीवन क्या। ..

जीवत रहो या मरण होओ, मैं तो मैं ही हूँ। जीवन रहे यह शान्तिका बीज नही। जीवन मरण यात्राये है। यात्री निरोग चाहिये फिर तो यात्राये सकुशल पार हो जायेगी और फिर यह यात्री वापिस अपने स्वरूप आरामघरमे आराम करने लगेगा।

२८ अक्टूबर १९५८

कोई मुझपर कितना ही अनुराग करे उससे मुझमे क्या आजावेगा, कुछ नही। तब कोई मुझ पर कितना ही विरोध करे उससे मुझमे क्या आजावेगा।

अनुराग, विरोव अनुराग व विरोधो जनो की चेष्टाये है, उनमे हमारा क्या है। जो जैसा करता है, करने दो उनकी चेष्टा है। परफल परिणतिमे हमारा

क्या दखल । परफत परिणति देखकर विषाद करने का हमारा क्या दखल । पर-फल परिणति देखकर विषाद करनेका हमारा क्या अधिकार है । लोक मुझे तुच्छ समझने लगेगे, समझो । परके कुछ विचार मेरा कोई विधान बन जावेगा ऐसी धारणा भ्रम है ।

हे आत्मन् ! अपने स्वरूप को ले देख जितना तू अभिन्न एक है उसे तो पहिचान । अपनी पहिचान किये विना दर दर की ठोकर खावेगा उससे तू क्या लाभ पावेगा । अपनी पहिचान करके अपने अनन्तस्वभावमे विश्राम करेगा इस मे तो सारा लाभ ही लाभ है ।

२६ अक्टूबर १९५८

आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक है । आत्माकी प्रकटता किसी गुण की मुख्यता कर के होती है । आत्माके सर्व गुणोमे इस उपायका मुख्य साधकतम ज्ञान गुण है । यह ज्ञान भी द्रव्यरूप व पर्यायरूप दोनो रूपसे है अर्थात द्रव्य दृष्टिसे देखो तो आत्मा निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु हे और पर्यायदृष्टि मे देखो तो स्वज्ञेय व पर ज्ञेयको जानता ज्ञेयाकाररूप परिणमता हुआ आत्मा है ।

कोई यह ही माने कि ज्ञेयाकार परिणमन ही आत्म वस्तु है अन्य कुछ नही है । इस मान्यताको पर्याय दृष्टि कहते हे । ऐसी पर्यायमात्र आत्माको कोई माने तो अगले क्षण आत्मा ही नष्ट हो गया अथवा आत्मा हुआ तो नया हुआ-दूसरी वात यह है कि वस्तुभूत कालिक सत्‌रूप कोई आत्मा नही है तो परिण-मन किसमे होगा । इस तरह तो परिणमन का भी अभाव हो गया तो जिसे देखते के वह भी न रहा । अथवा ये ज्ञेयाकार परिणमन भीठ, चौकी आदि मे क्यो नही हो जाते । इससे यह पूर्णतया सिद्ध है कि द्रव्यरूप ज्ञान मात्र आत्मा है ।

कोई यह माने कि आत्मातो निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु है ज्ञेयाकार परिण-मन प्रतिबिम्ब तो होता ही नही वह सब तो भ्रम है । इस मान्यताको एकान्त द्रव्यदृष्टि कहते है । ऐसी द्रव्यमात्र ही आत्माको कोई माने तो ज्ञेयाकार परिणमन तो माना ही नही तो अब कुछ ज्ञेयभूत वस्तु न रही जो है सो ज्ञान

मात्र वस्तु है। इस लह तो सारा विश्व ज्ञानयात्र ठहरा इस तरह तो केवल एक विज्ञानाद्वैत रहा। अब तो न कुछ हेयरूप रहा और न कुछ उपादेयरूप रहा। इस वुद्धि मे तो स्वच्छन्दता ही हाथ लगी। अथवा अर्थ क्रियाशून्य हो ऐसा कुछ है ही नही तब लो आत्मा का ही अभाव हो जायगा इस से यह सुसिद्ध है ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेयाकार परिणमन करता रहता है अत पर्यायरूप भी आत्मा है।

३० अक्टूबर १९५८

परपदार्थका व्यासङ्ग सर्वविडम्वनाओका पिता है। जोव को सहज तो दु ख होता नही किन्तु दु खके लिये वडा परिश्रम करना पडता है तब दु ख नसीब होता है। दु ख पा लेना यो ही साध्य नही है। इसके लिये असभव असभव कार्य सम्बन्धी विकल्प करने पडते हैं, इसके लिये अपना सर्वस्व लुटाकर विश्वके लिये आत्मसमर्पण कर देना पडता है, इसके लिये विरुद्धस्वरूपवाले पदार्थोंसे भी वडी दोस्ती बनाना पडती है, इसके लिये प्रभुसे भी मनमुटाव करना पडता है, इसके लिये सारी गन्दगियोंसे चिपट कर उनसे घृणा मिटा देना पडती है तब दु खसे भेट होती है

अय दु खपरिणामो ! तुम दुष्कर हो फिर भी मोहमन्त्रसिद्ध प्राणियो को सुलभ ही रहे। अय दु खपरिणामो ! यदि अनन्त आनन्दकी महिमा अनिर्वचनीय है तो अनन्तदु खकी महिमा भी अनिर्वचनीय है।

अय दु खपरिणामो ! यदि सहज आनन्दकी उपासना हितकर है तो तुम्हारी सत्य आराधना भी हित अहितकर नही। तो तुम्हारा यथार्थ स्वरूप समझ लेते है, उन्हे ससारसे पार होने मे कठिनाई नही होती। भव्य जीव तेरा सत्य स्वरूप ज्ञान कर तेरे कुचक्रसे वच जाते हैं।

अय दु खपरिणामो ! तुम चिरकालसे अनवरत अपना रोजगार करते आरहे हो, थक गये होगे, अव तो कुछ विश्राम कर। दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहू अभिराम।

३१ अक्टूबर १९५८

जिनेन्द्र देवके सत्य स्वरूपकी उपासना परमपुण्य कार्य है यह पुण्यकी इतनी उत्कृष्टसीमा है कि इसके आगे चलनेपर धर्मभूमि मिलती है।

हे जिनेन्द्र ! तुमने पहिले इन्द्रियविजय किया जिसके परिणाममे मोहकी क्षति हुई और अन्ततोगत्वा मोहका क्षय हुआ। मोहके सर्वथा क्षय होनेपर सर्वज्ञता हुई।

ऐसे सर्वज्ञ वीतराग आत्मा ही तुम जिनेन्द्र हो। हे जिनेन्द्र तुम जिस मार्ग मे चलकर परम पदमे स्थित हुए हो वही मार्ग हितका उपाय है। और जिस पदमे तुम स्थित हो वही उपेय है।

यह सब महिमा निर्वाञ्छकताकी है इज्जत भी वही सच्ची है कि इज्जतका तो विकल्प ही नही और शुभभाव के प्रेरे जन अत्युत्कृष्ट उपासनारूपी इज्जत करे।

स्वातिरिक्त सर्व पदार्थ पर है उनकी इच्छा करने से लाभ कुछ नही उठता है। एक दम सर्व पर पदार्थो से मुख मोडो तो विलक्षण अभ्युदय होगा।

हे आत्मन् ! कहा हो पता भी है कुछ ? असख्यात पुद्गल परिवर्तन के समयमे त्रसपर्यायका मौका दो हजार सागरका मिलता है प्राय उसमे भी सज्ञा होना व सज्ञीमे भी मनुष्य होना और मनुष्यमे भी योग जाति कुल वाला होना इन्द्रियो की परिपूर्णता होना तिस पर भी वीतराग भगवानका शासन मिलना कितना दुर्लभ है। अब पता है कितना दुर्लभ रत्न पाया। अब इसे विषय कषाय की कीचमे ही गमा मत दो। सावधान होओ। ॐ शुद्धम् चिदस्मि।

१ नवम्बर १९५८

जीवन तो वही है जहा निज एकत्वकी उपासनाका बार बार अवसर मिले। व्रतो की शक्ति न छुपाकर पालन करते हुए अध्यात्म शुद्धदृष्टिका प्रयोग करते रहना शुद्धपथ का अनुसरण है। व्रतो की निरतिचार पालनाका बल और सतोष भी एक प्रधान सहायक है अध्यात्मपथानुसरणका। व्रतोकी परिपालना व्यर्थ नही

जाती। स्वच्छन्द अथवा व्रतभगप्रत जीवन किसी छलवल पर चाहे लोकानुरजन प्राप्त करले किन्तु सवरनिर्जराविहीन जीवन होने से उसकी सार्थकता ही क्या है।

हे सिद्ध देव! तुम ससारसे याने अशान्तिसे सर्वथा विमुक्त हो गये हो। तुम्हारे स्वरूपकी आराधना भवभयको समाप्त कर देती है। सिद्धस्वरूपकी उपासना आत्मास्वभावकी उपासनासे मैत्री रखती है।

हे सिद्धसमूह! मुझपर प्रसन्न होओ अर्थात् तेरे स्वरूपकी उपासनासे मेरी निर्मलता प्रकट होओ।

हे भवभयभञ्जन! हे क्लेशनिकन्दन! हे परमपावन! तुम्हारा परिणमन स्वभावमे मिलगया अर्थात् स्वभावके अनुरूप तेरा परिणमन है इसीसे योगियोके आराध्य हो, मेरे आराध्य हो।

स्वभाव की आराधना से ही स्वभावके अनुरूप परिणमन होता है। स्वभाव परभावसे भिन्न है, स्वत परिपूण है आदिमध्य अन्तसे रहित हे, एकस्वरूप है।

स्वभाव ही देव अवस्थाको प्राप्त होता है, स्वभाव ही इससे पहिले गुरु अवस्थाको प्राप्त होता है।

२ नवम्बर १९५८

अपनी अवस्था ही देखो जरा, परकी अवस्थाके देखनेका क्या प्रयोजन सोचा हे? क्या शान्ति मिलेगी और परकी दृष्टिसे शान्ति किसने पाई एक ही उदाहरण वतावो। कदाचित् वता भी दोगे तो यह सोचना भ्रम हे कि यह शान्ति परकी दृष्टिसे हुई हे। वास्तविकता तो वहाँ यह है कि और अन्य प्रकारके पर पदार्थोकी दृष्टि वहाँ नही रही अत तद्विपयक अशान्तिका अभाव हो गया। वस्तुत तो वहाँ भी जैसे परकी दृष्टि है वैसी अशान्ति तो हे ही।

अशान्तिका सर्वथा परिहार करना है तो परकी दृष्टि सर्वथा हटा कर स्वमे दृष्टि करे और स्वकी दृष्टिका भी आग्रह छोडकर उदात्त बन जावे यह ही उपाय अशान्तिसे मुक्त होनेका है।

वर्तमान परिणमन निन्द्य है। हेय है। इसका अहकार दुर्गतिका बीज है। मनुष्य जन्मसे अनुपम लाभ लेने मे ही सच्चा विवेक है। इस लाभके उठानेका उपाय वस्तुस्वरूपका अध्ययन, मनन है।

किसी भी वस्तुके परिणमन को अन्य कोई वस्तु न तो ग्रहण कर सकता है और न परिणमा सकता है। इसी आधार पर दुनिया अब तक है और आगे रहेगी किन्तु इस वस्तु तथ्यको जो नही जानते वे आकुलित होते है और अपनी जन्म-मरणकी परम्पराको बढाते जाते है। जो इस वस्तु स्वरूपसे परिचित है वे अनाकुल रहते है और जन्ममरण रूप ससार को शीघ्र नष्ट कर देते है।

३ नवम्बर १९५८

ससार असार एव दुःखपूर्ण है। इससे मुक्ति पाने का उद्देश्य व उपाय बनाना विवेकी जनोका परम कर्तव्य है। ससारका मूल राग द्वेष है राग द्वेष का मूल ममत्व है। ममत्वका मूल मोह है। मोहका विनाश पदार्थों के सम्यक् अवबोधसे होता है।

पदार्थोंके स्वरूपके अध्ययनसे जब यह प्रतीति दृढ हो जाती है कि प्रत्येक पदार्थ अपने २ ही सत्वमे रहता है, परिणमता है तब यह भ्रम समाप्त हो जाता है जिसमे कि स्वस्वामित्व सम्बन्ध के स्वप्न रहते थे। इस मोह के समाप्त होते ही राग द्वेष कम होने लगते। जितना राग द्वेष कम हो उतनी ही शान्ति है। यही उद्देश्य और इसका उपाय करना ही सर्वोपरि व्यवसाय है, सर्वोपरि लाभ है।

समय बीता जा रहा है। समयका सदुपयोग ज्ञानाराधना मे है। ज्ञानाराधनाका बुद्धिपूर्वक उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय परम तप।

४ नवम्बर १९५८

करण साधकतमका नाम है। करण शब्दका प्रयोग शुद्धपरिणाम, शस्त्र, इन्द्रिय इत्यादि अनेको जगह प्रयुक्त होता है। साधकतम की दृष्टि सब अर्थोंमे है शुद्ध परिणाम सम्यक्त्व आदिकी उत्पत्तिमे कारण है व कर्म सवर कर्मनिर्जरामे

कारण है। शस्त्र छेदनादि कार्य मे कारण है। इन्द्रिय ज्ञानोत्पत्तिमे छद्मस्थके कारण है।

आनन्द निर्मलपरिणाम के आधीन है। जीव परिणामकी ही कमाई करता है वाह्य पदार्थों की कमाई नही कर सकता। परिणामकी निर्मलताकी कमाई हो जाने पर निकट कालान्तर मे वाह्य इष्ट समागम मिल जानेका कारण पूर्वमे कमाया हुआ निर्मल परिणाम है एवं सुख चाहनेवालोको दस काम कुछ नही करना है, केवल एक ही काम करना है, वह है आत्मनिर्मलता। आत्मनिर्मलताके बीजसे उगे हुए वृक्षमे कितने फल लगने है वे सब झटिति हो जाते है। कोई केवल फलका सचय करना चाहे और बीज वृक्ष कुछ न हो तो कैसे हो सकता। कोई वाह्य इष्ट समागम चाहे और निर्मलता कभी भी न बनाई हो तो यह कैसे हो सकता।

५ नवम्बर १६५८

व्यायाममे आसनका व्यायाम उत्तम व कलात्मक व्यायाम है आसने तो ६५ से भी अधिक हैं किन्तु मुख्य आसनो को सक्षेप मे लें तो इस प्रकार वे क्रमसे करना चाहिये —

क्रम न०	आसन नाम	समय	वार
१.	पद्मासन		
२	भुजगासन शलाभासन सहित	१०-१५ सेकिन्ड	
३	धनुरासन	५-२० सेकिण्ड	
४	पश्चिमोत्तानासन (चक्रासन)		
५.	सर्वाङ्गासन, हलासन व कर्णपीडनासन सहित		
६.	मत्स्यासन		
.	शीर्षासन		
८	अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन		
९	योगमुद्रा (रेचक करते हुए शिर नीचा करना, उठते पूरक, पश्चात् कुम्भक) करना, आसन पद्मासन ही रहे।		
[illegible]	[illegible]		

११ नौली
१२ शवासन

६ नवम्बर १९५८

आज इस जन्मका गर्भवासका समय छोडकर ४३ वर्ष पूरे हुए प्रात:। बन्धु जन बहुत से आज प्रशसा करते है, कोई भाई ऐसा नही मिला जो एकान्तमे मुझे मेरे दोष बताकर सावधान कर दे। खैर यह प्रशसा भी उन्नति मे साधक है इससे यह बल भी मिलता है कि जैसा भाई लोग कहते है वैसा बनने को उत्साह जागता है और विषय कषायोसे सर्वथा पराङमुख होनेको बल मिलता है।

सुख, दु:ख, सयोग, वियोग, यश, अयश सब कर्म विपाक के खेल है इनमे आत्मा उपयोग द्वारा घसिट रहा है इनसे मुक्ति भी आत्मा उपयोग द्वारा पावेगा। उपयोग का निर्मल रखना ही सर्वोपरि कर्तव्य है।

७ नवम्बर १९५८

वीर प्रभु जब भारत मे विहार कर रहे थे उस समयका वातावरण कितना पवित्र होगा। वीर प्रभु के दर्शनसे ही कितने जनोको सम्यक्तवकी प्राप्ति हो गई होगी। तीर्थङ्कर, केवली और श्रुत केवली के निकट दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है यह बात बिल्कुल ठीक मनमे घुस गई।

हे वीर! तेरा आत्मा अत्यन्त पवित्र है। जो जीव ऐसी पवित्रता चाहते है उनकी भीड आपके पास हो जाय उनका ठाठ लग जाय इसमे आश्चर्य कुछ नही है। आखिर और भी तो लोग मोक्ष जावेंगे उनकी ऐसी तो सुसीला तो हो जाती है।

हे वीर! हे अरहंत, हे परमात्मन्! तेरे सद्गुणोका जब तक जिसे ध्यान है उसे कोई सकट हो ही कैसे सकता। तेरे स्वरूपमे ध्यान बना रहे इससे बढकर लोकमे सम्पत्ति अन्य कोई हो नही सकती। इस ही द्वारसे चलकर आत्मस्वरूपस्थिरता रूप सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

जगतमे अन्य कुछ भी मेरे लिये हितरूप नही है। परमाणुमात्र भी मेरा नही है। अन्य पदार्थपे कुछ भी व्यवसाय नही करना। केवल निजस्वरूपमे निजको ही आनेका पुरुषार्थ करना है।

जिस स्थान मे हुए है उस स्थानमे प्रवृत्तियाँ बहुत हो जाती है, होती है तू उनका ज्ञाता रह। भीतरसे पहिचान तो जरा, मान तो जरा, ये सब कर्मोदयविपाक प्रभाव भाव है, मेरे स्वभाव नही है। मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव हू।

८ नवम्बर १९५८

शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचि ही शिवपथकी पहिली सीढी है। हे शुद्ध अन्तस्तत्त्व! सदा उपयोगके विषय रहो। सर्वोत्कृष्ट सार तेरी ही आराधना है।

विकल्पोकी उलझन ही रहे और निर्विकल्प निजतत्त्वके दर्शन भी न हो सके इस प्रकारकी प्रकृतिका पोषण करनेवाला विशाल ज्ञानाभ्यास भी हो तो उससे लाभ क्या। हा इतनी बात अवश्य है कि कदाचित् आशय मगल बनने लगे ता पूर्व अभ्यस्त वह बोध सुदृष्टिमे अधिक सहायक हो जाता है। जैसेकि कृपणको प्राप्त हुआ वैभवसे किसे लाभ है, न तो कृपण को लाभ है, और न किसी अन्यको लाभ है। हा इतनी बात अवश्य है कि कदाचित् उदारभाव प्रकट होने लगे तो उस धनका उपयोग करके वह स्वय सतोष व कीर्तिको उत्पन्न कर सकता व अन्य जन उससे लाभ भी ले सकते है।

वस्तुत तो ज्ञान वह है जो ज्ञानका वेदा करे। ससारमे ज्ञानकी ही बडी महिमा है, मुक्तिमे तो ज्ञानकी ही महिमा भक्तो द्वारा यहा वर्णित है।

सत्य तो सहज आत्मतत्त्व है। आत्मामे जो स्वत सिद्ध निरपेक्ष भाव है वह आत्मतत्त्व सत्य कहलाता है। आत्मामे जो भाव निमित्त, उपाधि, काल आदिका किसी भी प्रकार आश्रय करके होता है वह अब असत्य कहलाता है। सत्यभावको प्रदर्शन करने वाली दृष्टि भूतार्थ दृष्टि है और असत्यभावका पदर्शन करने वाली दृष्टि अभूतार्थ दृष्टि है भूतार्थ दृष्टिका आश्रय करने

वी वला सम्मग्दृष्टिके लिये विधिविहित है ।

६ नवम्बर १६५८

दु ख बाह्य उपाधि अथवा विषयोसे नही हुआ करता है किन्तु जिन जीवो के इन्द्रिया प्रौढ है उनके दु ख होना प्राकृतिक बात है। विषयोका समागम, विषयोका व्यापार तो अन्तर्वेदनाके कारण किया जाता है। अत उन्हे तो दु खका फल समझो, दु खका कारण मत समझो। दु खका कारण तो मोह राग द्वेष है। मोह राग द्वेपका अन्त साधन इन्द्रियज ज्ञान अथवा परोक्षज्ञान है। परोक्षज्ञानकी सामग्री इन्द्रिया है अ परोक्षज्ञानियोको प्राय इन्द्रियोमे मित्रता हो जाती है और इमी कारण नाना विकल्प हो जाते है।

विकल्प ही दु ख हैं इम ही से प्रेरित होकर प्राणी विषयोमे गिरते है। विपयोमे गिरनेका परिणाम विपत्तिया है और वे शीघ्र आने-वाली है किन्तु विकल्पसे प्रेरित होकर प्राणी विपयोम गिर ही पडते है चाहे विपयोमे शीघ्र ही विलश हो जावे।

विकल्प, दु खको मेटनेका उपाय निर्विकल्प स्वभाव की दृष्टि है। भलो भाति परिचित यह आत्मा निर्विकल्प हे। निर्विकल्प होने पर भी उसका सही स्वरूप वचनोसे अगोचर होनेसे अनिर्वचनीय है।

हे चैतन्य महा प्रभो ! तेरी दृष्टि, तेरी उपासना, तेरी आराधना, तेरी भावना अनुपम आनन्दको विस्तारती है। किन्तु ऐसा होने के लिये पर पदार्थ मे व परभावोमे रच भी रुचि नही होना चाहिये।

त्यागका बडा प्रभाव है। ज्ञानमय और क्रियानमकी परस्पर मैत्री है। यहाँ ज्ञाननमसे मतलब तो स्वानुभवसे लो और क्रियानमसे मतलब क्रोधादिक के त्याग से लो। जहा कषाय त्याग है स्वानुभव है वहा जहा स्वानुभव है, वहा कपाय त्याग है ऐसी इनमे परम मित्रता है।

१० नवम्बर १६५८

यह आत्मा अनेक प्रकारसे अनेक प्रकार दिखता है। उनमे यह भी प्रयोजन

अन्तर्गत है कि किस प्रकारसे देखनेपर आत्मामे क्या प्रभाव होता है।

आत्मा अनेक प्रकार दिखती है इसका मुख्य कारण यह है कि आत्मा एक सद्भूत तत्त्व है और वह प्रतिसमय परिणमन शील है इस ही आधार पर नयवादका प्रसार है।

सद्भूत तत्त्व विषयक दृष्टिको द्रव्यार्थिक दृष्टि कहते है और परिणमन शीलताके सम्बन्धके कारण आये हुए भेदोकी दृष्टिको पर्यायार्थिक दृष्टि कहते हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मा नित्य, एक, शुद्ध, केवल, मुक्त, विभक्त, अमेचक, स्वत सिद्ध निर्विकल्प अनादिनिधन, त्रैकोलिक, सामान्य, अखण्ड, ध्रुव, एकस्व-रूप, अबद्ध, असयुक्त, नियत, अकर्ता, अभोक्ता प्रतीत होता है। पर्यायार्थिक दृष्टिसे आत्मा अनित्य, अशुद्ध, द्वैत, गृहीत, मिश्र, मेचक, परत सिद्ध, सविकल्प, सादिसान्त, वर्तमान-कालमात्र, विशेष, खण्डित, अध्रुव, अनेरस्वरूप, बद्ध, सयुक्त, अनियत, कर्ता, भोक्ता प्रतिभात होता है।

द्रव्यार्थिक दृष्टिसे शान्तिका प्रसार है किन्तु द्रव्यार्थिक पक्षपातसे शान्तिका प्रसार नही है। दृष्टि तो प्रतिपक्ष धर्मको गोणतासे निष्पन्न होती है और पक्षपात प्रतिपक्ष धर्म के विरोधसे निष्पन्न होता है।

हे आत्मन्! ज्ञान तो सर्वतोमुख कर लो और दृष्टिमे निरपेक्ष निज तत्त्व लो। हे मुमुक्षु! ऐसा प्रयत्न करो कि कोई भी बाह्य पदार्थ अब उपयोग मे न लाओ।

ॐ शुद्ध चिदस्मि।

११ नवम्बर १६५८

आज परमोपरस्य श्री १००८ भगवान महावीर स्वामीका निर्वाणदिवस है। महावीर भगवान इस समय सिद्धावस्थामे अशरीर लोकके अन्तमे विराज-मान है, किन्तु लोग आज भी उनकी उस अवस्थामे अधिकतया आराधना करते है जिस अवस्याको निमित्त करके लोगोने परम कल्याणका मार्ग पाया। वह अवस्था थी अरहत अवस्था। श्री मद्देवाधिदेव अरहत भगवान् महा-

वीर तीर्थङ्करका मुख्य तथा भारतवासियो पर महान् उपकार था।

भगवान महावीर स्वामी आज सर्वकर्मक्षय सिद्ध है। सर्वकर्मक्षय सिद्ध होनेका उपाय सहजसिद्ध निज चैतन्य तत्त्वकी उपासना है।

ससारी प्राणी 'हम लोग अनादिकाल जीवन यात्रा करते चले आये है। हमारी अनन्त काल तो यात्रा निगोदमे रही, जहा एक ही सेकिण्ड मे २३ बार जन्म मरण किया। किसी प्रकार वहासे निकले तो अन्य स्थावार जीवोमे जन्म मरण किया। वहासे निकले तो विकलत्रय हुए तो वहा क्या किया जाय बेहोश ही रहे। विकलत्रयसे निकलकर असज्ञी पन्चेन्द्रिय हुए तो क्या लाभ। सज्ञी हुए और अनपढ ही रहे तो क्या लाभ। आजका भाव हमारा कितना सुयोग है— इन्द्रियोको पूर्णता है। भापावोका, वचनोका आदान प्रदान है। यहा भी यदि शाश्वत शान्तिका मार्ग न ग्रहण कर पाया तो फिर क्या करेंगे। हमारा अहर्निश कर्तव्य है कि देहादि सर्वपर पदार्थोसे विविक्त चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति रखे। सर्वे-भद्राणि पश्यन्तु।

१२ नवम्बर १९५८

पर पदार्थमे आत्मबुद्धि होना, पर पदार्थसे हितकी बुद्धि करना, पर पदार्थके सग्रहका भाव करना, असमान जातीय पर्याय जो गुजर रही है उसे ही सर्वस्व समझना, उसकी इज्जत सुहाना आदि सब अकल्याणके मार्ग है।

कल्याणमार्ग पानेके लिये सर्व पदार्थोकी चिन्ता छोडकर केवल चैतन्य-मात्र अपने आपको देखते रहनेकी आवश्यकता है।

आज सहारनपुरमे एक सज्जनने परोक्ष श्रद्धाञ्जलिका पत्र भेजा जिसमे उपदेश भी सुन्दर लिखा। दशमी के दिन जहा अनेको बन्धुओने प्रशसा की उसी सिलसिलेमे यह पत्र मिला इसमे मेरी उस आकाँक्षाकी पूर्ति है जिसे मैंने हस्तिम्बरको यह अनुभव किया कि कोई दोप कहकर सावधान करनेवाला भी मिलता। इस पत्रसे मुझे क्षोभ नही हुआ प्राय इसका मुझे कुछ सतोष मिला और वैराग्यमार्ग पर चलनेकी प्रेरणा मिली।

अपने उपयोगको ज्ञानधारामे रमाये रहे ऐसे प्रयत्नको पुरुषार्थ कहते है
यह पुरुषार्थ ही आत्माके काम आनेवाला है, शेष मन वचन कायके व्यापा
व्यायाम है ।

मात्र ज्ञानोपयोगमे वीतने वाला क्षय धन्य है । उस परिणतिकी तुलन
अत्यन्त नही है ।

परके आश्रयसे उत्पन्न होने वाले भावोमे स्वय इतना वल नही है कि
हमे हैरान कर सके । यदि अपना उपयोग उन्हे न पकडे तो वे विभाव हमे
हैरान नही कर सकते । अपना उपयोग उन्हे स्वीकार करता है कि उन विभावों
से आत्मा परेशान हो जाता है ।

१२ नवम्बर १९५८

जीवोकी शुद्धि द्रव्यदृष्टि से ही होती है । द्रव्य दृष्टि कैसे हो जब
कि जीवोकी दृष्टि पर्यायोपर है । अच्छा, लो पर्यायोकी ओरसे ही चलो द्रव्यका
दृष्टिपर पहुच जावोगे । पर्यायो यथार्थ का ज्ञान करो । ये पर्याये किस गुणसे प्रकट
हुई हे । गुणोको जान कर फिर यह देखो कि ये गुण किसके स्वभाव हैं । इस
पद्धतिसे तुम द्रव्यपर ही पहुच जावोगे ।

कोई मालिक यदि नौकरको हुकम दे और वह कदाचित् उस ही प्रकार
कार्य करे तो यह समझना कि मालिकने नौकरको काममे लगा दिया निपट
भूल है । वात तो वहा भी यह है कि मालिकने मात्र अपना काम किया और
नौकरने अपने अभिप्राय के अनुकूल किया ।

प्रत्येक आत्मा अपने परिणाम का फल त्वरित मिलता है अशुभ परिणाम
करे तो अशुभफल पाता है, शुभ परिणाम करे तो शुभफल पाता है और शुद्ध
परिणाम करे तो शुद्ध फल पाता है ।

आनन्द शुद्ध फल है, सुख शुभ फलहै दुख अशुभ फल है । ये सब ज्ञानके अविन
भावी है याने दुख जैसे मिले तैसा ज्ञान करो दुख होगा, सुख जैसे मिले तैसा ज्ञान
करो सुख मिलेगा, आनन्द जैसे मिले तैसा ज्ञान करो आनन्द मिलेगा । विकल्पा-

त्मक ज्ञानसे सुख अथवा दुःख होता है, निर्विकल्प ज्ञान करनेसे आनन्द होता है।

सबका उपाय वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान विना निर्विकल्प ज्ञान की वर्तनाःका पात्र नही है।

१४ नवम्बर १९५८

आज प्रात ७॥ वजे सहारनपुरसे रुडकी चले। जनसमुदायका विशुद्ध अनुराग था। श्री ला० वैजनाथ जी यादगार वडतला ने स्वय २५०) बडे विनय व आग्रहसे साहित्यप्रकाशनको दिये। कितने ही बार उन्हे कहा भी गया कि आवश्यकता नही है तो भी न माना व यह कहकर कि नाम घोषित न करना, सस्था को देकर ही रहा। चौ० नेमिचन्द जी ने एक कमराको कहा।

आज दुपहर १०॥ वजे तक चल कर ७ मील पर गागल खेडी पहुचा। दुपहर बाद २ वजेसे चल कर १० मील पर भगवान पुर ग्रामको ५। वजे पहुचा। भगवानपुर मे रुडकी के उन बालकोका, जो कि सहारनपुरसे १७ मील पैदल चलकर भगवान पुर आये, सगीत हुआ। इन बालकोके चहरेपर थकान क्लेश जरा भी नही दिखा।

मनका सयत व आनन्दित रहना ही निष्पद परिणमन है। इन्द्रिय व मन की दासत स्वय विडम्बना है। इस विडम्बनासे सारा जगत परेशान है। योगी वही है जो इन्द्रियो के विषयमे नितान्त पराङमुख होकर अपने आपके स्वभाव की उपसनामे लग जाते है।

योग व भोग दोनोमे आनन्द है, योगके आनन्दको आनन्द कहते है, भोगके आनन्दको सुख कहते ह। भोगानन्द पराधीन क्षणिक आकुलोत्पादक पाप वीज व स्वभावके विपरीत है किन्तु योगानन्द स्वाधीन, ध्रुव, अन्तकुलस्वरूप, निर्मलताका वीज व स्वभावके अनुरूप है।

नित्यसिद्धात्मने नम । सहजसिद्धाय नमो नम ।

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ।

१५ नवम्बर १९५८

आज प्रात १० वजे रुडकी पहुचा। समुदायमे श्रम अधिक मालूम होता है।

जितनी थकान १७ मील चलकर महसूस नही हुई जितनी कि रुडकीमे जाते समय १।। मील चलनेमे महसूम हुई इसका कारण अतिधीरे चल सकना रहा ऐसा मालूम होता है कि जलूसकी सारी चोटी बैण्डवाजे वालो के हाथमे है। ये मस्ताने होकर धीरे चले तो सभी को धीरे चलना पडता है।

रुडकीकी सबसे प्रमुख विशेषता दिखी तो यह कि रात्रिकी सभामे जैनोसे अधिक अजैन रहते है। वे अजैन भी सभी प्राय ग्रेजुएट रहते है।

आध्यात्मिक विद्या हितकारिणी है। इस विद्या का रहस्य अवगत करने के लिए सर्वप्रथम यह बात जानना आवश्यक है कि जगतमे सर्व एक एक वस्तु कितनी है। यह जाने बिना 'पर पदार्थ से हटना व निजमे रमना' यह कला जग नही सकती। सब वस्तुओ निज व पर सब आगया। अनादि काल से परमे उपयोगी याने परपदार्थ विषयक विकल्प जालमे फसे हुए प्राणी परविषयक-विकल्प जालसे छूटे एतदर्थ तो पर पदार्थके सत्य स्वरूपके जाननेकी आवश्यकता है और निज आत्मतत्वमे रमे इसके लिये निज आत्मतत्त्वके सन्मुख होने की आवश्यकता है एतदर्थ निज आत्म तत्त्वके बोधकी आवश्यकता है।

अत सर्व वस्तुओका स्वरूप जानना आवश्यक है यह समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि एक एक वस्तु कितनी कितनी होती है और इस तरहके वे सब एक एक मिल कर कितने है ?

१६ नवम्बर १९५८

सब द्रव्य कुल ६ जातिमे मिलते है—१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश ६ काल। इनमे जीव तो अनन्तानन्त है पुद्गल भी अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य १ है, अधर्मद्रव्य १ है, आकाशद्रव्य १ है, काल द्रव्य असख्यात है।

एक द्रव्य उतना होता है कि एक परिणमन जितने मे होना ही पडे और जितने से बाहर कभी न हो। इस आधारसे देखो तो स्पष्ट विदित हो जाएगा कि जीव अनन्तानन्त है व पुद्गल अनन्तानन्त है। पुद्गलोसे प्रयोजन स्कन्धका नही है स्कन्ध तो अनेक पुद्गलोका समुदाय है। काल द्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक स्थित है। लोकाकाशके प्रदेश असख्यात है और काल द्रव्य असख्यात है।

उक्त समस्त द्रव्य मात्र अपना अपना ही काम करते हे। यदि कोई द्रव्य सजातीय अथवा विजातीय किसी भी अन्य द्रव्यका कार्य करने लगता तो द्रव्य ही कुछ न रहता, सर्व लोप हो जाता। आज भी रूप यथावस्थित दीख रहे है, जाने जा रहे है यही सवल प्रमाण है इस वातका कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कोई कार्य नही करता। अपना कार्य करते हुए मे किसीको आश्रय (निमित्त) कर लेना या कर्मोदयको निमित्तमात्र पाकर विभाव कार्य कर लेना यह तो होता है किन्तु यह त्रिकाल असभव है कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कुछ भी परिणमन कर दे याने अपनी परिणतिसे दूमरेकी परिणति बना दे या दूसरेकी परिणतिसे अपनी परिणति वना ले, यह कभी नही हो मकता।

१७ नवम्बर १९५८

पदार्थोंकी रचना कौन करता इस समस्याके हल करनेमे अनेक पुरुषोने वुद्धि-वलका प्रयोग किया। कुछ मान्यता भी किमी समर्थ पर आत्माके बारेमे वन गई। वन गई और कुछ परम्परासे वह मान्यता चली आरही। उस मान्यताको मानने वाले जितने मनुष्य है उनमे अधिक तो ऐसे है कि तत्सम्वन्धो विशेष परिज्ञान नही, किन्तु रूढिवश मान्यता कर ली और अधिक ऐसे है कि कह तो डालते हे मगर चित्त गवाह नही देता और कई ऐमे है कि कदाचित् कह जाते हे लेकिन न तो रुढिके दास है वे और उनका चित्त इस विषयमे कुछ गवाही भी नही देता।

यदि वनने वाले पदार्थके स्वरूपकी ओर ही विशेष ध्यान दिया जावे तो यह समस्या हल हो सकती है। पदार्थ चूकी है अत परिणमना तो उमका स्वभाव ही है। कोई पदार्थ ऐसा नही होता कि उसका सत्त्व तो हो किन्तु परिणति न होती हो। है का होनेके साथ अविनाभाव सम्वन्ध है अर्थात् जो वनता है विगडता हे वह अवपूर्वोत्तर कालमे वना रहता है व जो वना रहता हे वह प्रतिक्षण किसी न किसी रूपमे वनता विगडता अवश्य है। यह तो हुआ पदार्थगत परिणमन स्वभाव। अव यह विचारना मात्र शेप रह गया है कि

पदार्थ विचित्र नानारूपोमे परिणमता है वह कैसे ? इसमे उपाधिकी विचित्रताका निमित्त कहना उत्तरमे आता है ।

अनादिसे ही सर्व पदाथ है और यथा योग्य अपनी योग्यता और वाह्य पदार्थोका सन्निधान पाकर परिणमते चले आरहे हैं ।

१८ नवम्बर १९५८

वस्तुके यथार्थ स्वरूपका पता न कर सकनेका नाम मोह है । इस मोहमे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वका घात अर्थात् तिरोभाव कर दिया है। पूर्ण शुद्धविकासको रोक देने वाला मोह परिणाम पूर्ण शुद्धविकासके समान ही तो पराक्रमी हो गया ।

मोहको जीतनेका उपाय सतत ज्ञानोपयोग है । अनादि कालसे लगे हुए कर्मोका विजय करनेके लिये अनवरत कुछ समय ही ज्ञानोपधिसेवन न किया जावे तो वतावो इससे कम अथवा इससे अन्य सुगम उपाय और क्या करोगे। उपाय कोई दूसरा है ही नही ।

पढने लिखने, मनन करने अन्य सज्जनोको कहनेके निमित्तसे अपने आपको समझाने मे अधिकसे अधिक यत्न करो । बुद्धिपूवक तव तक इसका यत्न करो जव तक ये सहज ही छूट न जावे ।

ॐ नम सहजसिद्धाय, निर्विकल्पाय, परमज्योतिपे ।

जीवका वास्तविक घन हे सत् श्रद्धा व सत् चारित्र ।

वर्तमान ज्ञ न तो इन दोनोका साधक वनाता है । जानने मात्रसे वन्ध मोक्ष कुछ नही हे । केवल जाननेको मोक्ष व मोक्षका उपाय कहा है जहा वहा भी यह रहस्य निहित हे कि जहा सत् श्रद्धा व सत् चारित्र होनेके कारण विपरीत प्रवृत्ति नही रही उस स्थितिमे जाननेकी यह स्थिति मोक्ष अथवा मोक्षका उपाय है ।

जानने पर गर्व करना निपट अज्ञान है । सत् श्रद्धा व सत् चारित्र हुआ हे तो उस पर गौरव करना कुछ कार्य कर है । सत् श्रद्धा व सत् चारित्रमे तो गव होता ही नही ।

१९ नवम्बर १९५८

आज एक मुख्य अध्यापक और कुछ इंजिनियरिंग क्लासके छात्रोंके साथ रुडकीकी यूनिवर्सिटी देखने गये। प्रयोगशाला पे भी साधारण दृष्टिसे देखी। निमित्त नैमित्तकताको लीलाओंका सारा खेल था और था मनुष्य जीवनकी भौतिक समस्याओंके हलकी शिक्षा।

द्रव्यका स्वरूपलाभ जितने प्रदेशोंमे है उन प्रदेशोंसे बाह्य क्षेत्रमे उस द्रव्य का काम नही होता। यह तथ्य अनादिसे है व अनन्त काल तक रहेगा।

निमित्त नैमित्तिकभावको कर्तृ कर्मभावमे देखना अज्ञान है। पर द्रव्य किसी पर द्रव्यका कर्ता है इस समझकी सतानमे तथ्य तो कुछ है, और वह है निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्धी, परन्तु वस्तुतत्त्वके माहात्म्यमे अपरिचित जनोंमे उस सीमाको उल्लङ्घ कर उनके परस्पर कर्तकर्मभावको मान्यतामे घुसे अतएव परिभ्रमण, परिशातन, परिवेदन, परियोजन, आदिकी पीडायें सहनी पडी।

वस्तुतत्त्वकी स्वतन्त्रताका परिवीक्षण महत्त्व पानेका प्रथम उपाय हैं। इसका अनवरत उपयोग द्वितीय उपाय है और इसके फल स्वरूप होनेवाली परम उपेक्षा तृतीय उपाय है। बस यही हो जाता है बन् ट्र थ्री। इसके बाद अनन्तकाल तक परम शान्ति रहती है।

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पेठ।

शान्तिलाभका मार्ग स्वाधीन है। उसे दुर्गम तो बना रक्खा है तब तक जब तक स्वकी उन्मुखताका सहज वर्तन नही करता।

२० नवम्बर १९५८

आज कुछ अजैन विद्वानोंने जिन्हे कि तत्त्वरुचि विशेष है, सलाह दी है कि तत्त्वचर्चा लिखित ही होना चाहिये याने कोई भाई यदि चर्चा करना चाहे तो वह लिखित प्रश्न दे और उसका आप लिखित समाधान करके उसे अगले दिन या अन्य दिन सुनवा दे। क्योंकि अन्यथा पद्धतिसे इसमे वादविवादकी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो कि सबके लिये अकल्याण कारक है। वादविवादमे

सत्य असत्यके निर्णयकी ओर झुकाव तो होता नही, किन्तु रोगपोषण व विरोधकी स्थिति रहती है।

उक्त बात उन भाइयोकी मानकर आज उसका सकल्प करता हूँ। चर्चाकी पद्धति इस प्रकार रहे कि जिज्ञासु भाई एक कागजमे लिख कर सगके प्रमुख ब्रह्मचारी जी को दे दे और प्रमुख जी मुझे दे दें उसे चर्चाकापीमे लिख कर नीचे उत्तर लिख दूगा। अगले दिन या नम्बर न आ सके तो अन्य अगले दिन मे प्रमुख जी उस उत्तरको सुना दिया करे। उत्तर सुनानेका नियत समय सूर्यास्तके २ घटा पहिलेसे ४० मिनट तक व प्रमुख जी को लिखित प्रश्न देने का मुख्य समय इसके बादसे ४० मिनट तक रहे। अन्य समय भी कोई प्रश्न प्रमुख जी को सुविधा हो तो दे सकता है।

२१ नवम्बर १९५८

धर्मके सम्बन्धमे कुछ सोचे, कुछ बोले, कुछ करे तो चेतनके नाते। जाति, मजहब, कुल, देह आदिकी ओर सम्बन्ध बुद्धि रखकर धर्मके बारेमे कुछ सोचना बोलना करना खतरेसे खाली नही है।

जब बुद्धि किसी पक्षमे चली जाती है तब उस अभिप्रायके विरुद्ध कुछ भी सुननेकी सहिष्णुता नही रहती। यह बात वस्तु स्वरूपके बारेमे कही जा रही है। आत्माका स्वरूप क्या है यह रहस्य तब तक नही समझा जा सकता है जब तक कि अनेक दृष्टियोमे उसकी अनेक कलायें परिज्ञात न हो जावे। आत्माके स्वरूपके परिज्ञानके बाद फिर दृष्टियोके पकडनेकी जरूरत नही है और न पकडी ही जाती है उसका साक्षात् अनुभव करनेके प्रसङ्गमे।

आत्मजिज्ञासा जिन्हे है उनका कर्तव्य है कि आत्मस्वरूपकी चर्चा धैर्य पूर्वक सुने। सभव है कि जो सुननेमे आ रहा है उसके प्रतिपक्षकी बात दिलमे बैठी हो और नई बात खटक पैदा कर रही हो। किन्तु यह सोचकर कि दिल की यह बात भी सत्य है और मुमकिन है कि थोडी ही देर बाद इसका भी समर्थन प्राप्त होगा, धैर्यपूर्वक सुनना कर्तव्य है।

अक्सर, द्वैतव अद्वैतकी चर्चामे संघर्ष हो जाया करता है। किन्तु क्या सर्वथा द्वैत है कि वा सर्वथा अद्वैत है। सर्वथा द्वैत है तो सामान्य व जाति का उच्छेद हो जायगा किन्तु उच्छेद हे नही क्योकि स्वंत्र सामान्य व जातिका भी आश्रय कर व्यवहार देखा जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत हो तो अर्थ क्रिया सर्व समाप्त हो जायगी। दूध विशिष्ट गौसे निकलता है, गौ जातिसे नही फिर सभी भूखे मर जायेंगे। हो, तो द्वैतकी अथवा अद्वैतकी चर्चा धैर्यपूर्वक सुनना चाहिये।

२२ नवम्बर १९५८

आत्मा अपना ही कर्ता है, अपने द्वारा ही करता है, जो कुछ करता है अपने लिये ही करता है, अपनेमें ही करता है। अपनेसे बाहर कुछ नही है।

कल्याणका उपाय आत्मदृष्टि है। विकल्प छोडनेके उद्देश्यसे अच्छा तो आत्मदृष्टि करनेका उद्देश्य है। राग द्वेषसे मुक्त होऊ इस उद्देश्यसे अच्छा तो अनाद्यनन्त अचल चित्स्वभावका उपयोग करनेका उद्देश्य हे।

सर्व संकल्प जालसे मुक्त होकर चित्स्वभावका अवलम्बन करना चाहिये या चित्स्वभावका अवलम्बन करके सर्व संकल्प जाल से मुक्त हो जाना चाहिये। क्या ठीक उपाय जचता है ? चित्स्वभावके अवलम्बनमे तो सर्व संकल्प जालमे मुक्त हो हो जाता है व सर्व संकल्पजालसे मुक्त होनेमे चित्स्वभावका ही अवलम्बन होता हे। किन्तु, उपाय क्या हे विधि या निषेध ? ज्ञान तो अर्थ क्रिया करेगा। ज्ञानकी अर्थक्रिया जानना हे। जाननेको विषयी विधिरूप है निषेध भी ज्ञेय है किन्तु वह भी किसी न किसी विधिरूप ही पडता है। मात्र निषेध कुछ वस्तु नही। तव किसी भी विषयका जो भी उपाय होगा परमार्थत विधिरूप ही होगा।

सनातन, सहज, स्वरमनिर्भर स्वकीय समयकी सेवा करो सर्व सत्य सिद्धि होगी।

२३ नवम्बर १९५८

बहुतसे भाई कहा करते है कि धर्मकथा इतनी पढते है, सुनते है किन्तु

क्रियात्मक कुछ कर नही पाते इस लिये पढना सुनना वेकार है। किन्तु, भैया क्रियात्मक नही कर पाते ठीक है। मगर जव भी क्रियात्मक कर पावेंगे तो पढकर, सुनकर, सोचकर ध्यानकर आदि प्रयोगो पूर्वक ही तो करेंगे इस लिये विलकुल वेकार कैसे कहा जा सकता है।

विषय, कपाय, शल्य, भोगाकाड्क्षा ये सभी अहित है। इनका कुछ तो परिहार धर्मकथाके उपयोगमे रहता ही है। यह धर्म कथाके उपयोगका तात्कालिक लाभ है। भविष्यमे ऐसे परिणामका परम्पराकारण वने जिससे कि विपय कपायादि परिणामोका समूल व्यय हो जाय ऐसी सम्भावना तो है ही। अत धर्मकथा कहना सुनना मुमुक्षुवोका श्रद्य कर्तव्य है।

२४ नवम्बर १९५८

अपने आपको समझा लेना और कष्ट सह लेना एकत्व भावनाका फल है। जो आपमे बीत रही उसे औपाधिक भाव जानकर उसमे रुचि हटा लेना व्यवहारात्मक पुरुषार्थ है। ऐसे किये विना शान्तिके मार्ग पर आगे नही जाया जा सकता अथवा शान्तिका मार्ग ही नही मिलता।

सारा क्लेश मोहका है। मोह मिटे विना क्लेश नही मिटता। मोह तत्त्वज्ञान विना नही मिटता। मोह कहो या तत्त्वज्ञान कहो एक ही वात है। मोहका अर्थ अधिक प्रेम मे इस लिये रूट हो गया कि मोहके साथ प्रेम होता है तो प्रेममे प्रवलता आ जाती है। वस्तुत प्रेम राग पर्याय है। मोह, मिथ्यात्व एकार्थवाचक शब्द है, मिथ्यात्व सम्यक्तव (श्रद्धा) गुणकी विकृत पर्याय है। प्रेम चारित्र गुणकी विकृत पर्याय है।

कुछ लोग तो मोह शब्दके प्रयोगमे तो घृणा जाहिर नहीं करते है और अज्ञान या मूढता या मिथ्यात्व शब्दके प्रयोगमे घृणा जाहिर करते हैं। किन्तु, मोह, अज्ञान, मूढता, मिथ्यात्व सव दर्शन मोह ही है।

आत्माका प्रवल शत्रु मोह है। मोहपर विजय होने पर सव पर विजय हो चुकती अथवा सुगमतासे विजय हो जाती है।

न सम्यक्त्वसम किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम् ॥

२५ नवम्बर १९५८

कल्पनाका विषय पर वस्तु या भेद रूप निजवस्तु पडता है । इसी कारण अभेद स्वभावमे प्रतिष्ठा न पा सकनेसे कल्पनाका अविन्नभाव आकुलतासे रहता है । यह आकुलता तभी दूर हो सकती जब अभेद निजस्वभावमे समवस्थिति हो । इसका उपाय यह है कि समवस्थिति करने वाला हे उपयोग, सो उपयोग को उपयोगके स्रोत ज्ञानके स्वरूपमे वृत्तिमान कर देवे ।

जगत जीव दुखी है किन्तु जगत जीव सुखी है । जो नही जग सकते वे क्या शान्तिके पात्र हो सकते ।

२६ नवम्बर १९५८

आज अष्टाह्लिका पर्वका अन्तिम दिन है । कातिकमासका भी इस पर्वराजके कारण लोक व्यापी महत्त्व है । हिन्दू जन भी महिलाये भी पुण्यक्रियाये करते है । प्रात· स्नान, आरती, परिक्रमा आदि विधिया पर्वराजकी मौलिकताकी सूचना देती हैं ।

जिसके मनमे भगवद्भक्ति पराकाष्ठाको प्राप्त है उसे धर्ममार्ग मिल जाना अतिसुगम हो जाता है ।

कोई जीव परका अधिकारी नही है । परके प्रति कोई भाव बना ले यही कर सकता है । सो मोही रागी जीवोके प्रति खुशमिदका भाव बनावे इससे अच्छा और बहुत अच्छा यही है कि निर्दोष परमात्माके प्रति निर्मल गुणोकी आराधनाका भाव बना ले ।

पर तो पर ही है क्यो मोहनीदके स्वप्नके संक्लेश सह रहे हो । मोहनीदसे जग और स्वप्नकी आपत्तियाँ मिटा ले ।

२७ नवम्बर १९५८

पापको पाप समझ लेना भी एक विवेक है जिसके बल पर पापसे निवृत्त हो कर शुद्ध स्वभावमे उपयुक्त हुआ जा सकता है ।

पापको पाप ही न समझने देवे ऐसे परिणामका साधकभाव मिथ्यात्व है। तभी तो मिथ्यात्वको महापाप माना गया है।

जिसने मिथ्यात्वका त्याग किया उसने धर्ममार्गका चलना प्रारम्भ किया।

परको निज माननेमे ही तो इस जीवने अनन्त काल दु:खोमे गमा दिया। निजको निज व परको पर जाननेमे कौनसी विपत्ति आती है या क्या तेरा गिर जाता है। मूढतामे तो कोई सार तत्त्व हाथ न आवेगा। जब भी सुखी होओगे तब सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे तब सम्यग्ज्ञान अभी ही जल्दी यत्न कर लो और फिर अनवरत उसीमे उपयुक्त रहो।

२८ नवम्बर १९५८

जो निजकी ख्यातिकी चाहसे दूर है वह मानव पुरुषोत्तम है। सर्व अनर्थो की जड मनुष्यके ख्यातिकी चाह है। ख्याति एक वह वातावरण है जिससे कि मनुष्यकी विवेक ज्योति डगमग हो सकती है।

इस रोगको मूलसे मेंटनेके लिये स्वभाव दृष्टिका अमृतपान करना चाहिये।

इष्टविषयलाभ तो आकुलताकी दवा हे जो उस आकुलताको क्षण भरको दवा कर नई आकुलताये पैदा करता है व पश्चात् उसी प्रकारकी आकुलताको बढा देता है। आकुलताकी औषधि तो स्वभावाश्रय है जो आकुलताको मूलसे उखाडकर निराकुलस्वरूपमे विश्राम करा देता है।

२९ नवम्बर १९५८

यह ससार वेवूझीका घर है यह तो दूसरेके लिये दूसरेका कहना है। वैसे तो सर्व फल वूझ २ कर दिया जा रहा है। कलुपितभाव होनेपर उस प्रकार की प्रकृतिका वन्ध होता ही है और जिस प्रकार की जैसी अनुभागवाली प्रकृतिका उदय होता है उस प्रकारको विभावपरिणति होती है अथवा सक्रमण आदिके योग्य वात होने पर सक्रमण आदि होते है। इसमे वेवूझीकी वात क्या रही। सब वूझ वूझकर ही तो हो रहा है। मतलव तो यह निकला कि यदि दु:ख नही चाहता है तो कपाय मत करो।

३० नवम्बर १६५८

श्री रामचन्द्रजी जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम महापुरुषने कभी शिकार भी खेला होगा याने निरपराध पशु पक्षियोंको मारा होगा यह सभव ही नही है, किन्तु मासभक्षणके पक्षको पुष्ट करनेकी भावना रखने वाले अनेक जन अब भी ऐसे हैं जो श्री रामचन्द्रजी को शिकार खेलना कहते हे।

श्री रामचन्द्रजीका जीवन आदर्श रहा है, मर्यादापूर्ण रहा है। निरपराव रहा है। निरपराध पशुवोंका वध किया होगा यह हो ही नही सकता। परम दयालु श्रीरामचन्द्रजीने अनेक जीवोके सकट टाले वे निरपराध पशुवोपर महा सकट डाले इसकी कल्पना करना भी अपराध है ऐसी खोटी कल्पना करने वाले अपनी खोटी गतिको रिजर्व करानेका यत्न कर रहे है।

१ दिसम्बर १६५८

जीवका सहाय जीवका वीतराग परिणाम है। रागमे आकुलता है तव तव वीतरागतामे अनाकुलता है। यह वात कैसे सिद्ध न होगी।

हे विरागता माता आवो, आकुलताका ताप मिटाओ। अज्ञान भूमिपर पडे हुए व विलखते हुए इस वाल (अज्ञानी) किन्तु पात्र जीवको अज्ञान भूमि उठकर अपनी गोदमे विठाकर उसका यह सव जान्मका रोना मिटा दे ऐसी शक्ति विरागता मातामे ही है।

हे विरागता माता आवो, आकुलताका ताप मिटावो।

२ दिसम्बर १६५८

हे पथिक! तुझे मालूम है, पथिक कितने प्रकारके होते है — तीन प्रकार के पथिक है — (१) भवपथिक, (२) शिवपथिक, (३) सहजानन्दपथिक। भव पथिक तो वहिरात्मा है जो कि ससारमार्गपर परिणतिरूप यात्रा करता है शिवपथिक अन्तरात्मा हे जो कि मोक्षमार्गकी परिणतिरूप यात्रा करता है सहजानन्द पथिक परमात्मा है जो कि सहज शाश्वत आनन्दकी परिणतिरूप यात्रा करता चला जाता है।

हे शुभ यात्री तू थर्डक्लासकी यात्रा छोड दे याने भावपथिक न बन और सेकिण्ड क्लासकी यात्रा कर याने शिवपथिक बन । पश्चात् फर्स्ट क्लासकी यात्रासे सहजानन्द पथिक बन । यहाकी रेलकी यात्रामे फर्स्टक्लासका महत्त्व न देना वह तो मानका साधन है ।

३ दिसम्बर १९५८

मनुष्य, मनुज, मानव, नर, जन, पुरुष, मर्त्य आदि शब्द मनुष्यकी विशेषता बताने वाले शब्द है ।

मनुष्य विचारशीलको कहते है । मनुज श्रेष्ठ मन वालोसे उत्पन्न हुएको कहते है। मानव मनु अर्थात कुलकरोकी परम्परया सन्तानको कहते है । नर अच्छी क्रिया करने वालोको कहते हैं । जन अच्छे कार्यके लिये उत्पन्न होने वालोको कहते है पुरुष पुरुषार्थशील लोगोको कहते है मर्त्य अधिक उम्रनलेकर या अकालमे मरने वालोको कहते है ।

हे आत्मन् तू अभी जिस पर्यायमे है उस पर्यायकी विशेषता जानकर शीघ्र धममे उत्साह करके अपनी यात्रा सफल कर ।

४ दिसम्बर १९५८

पर पदार्थका सङ्ग बाधक है, बाधक है, आत्महितमे बाधक है । अनादि से परका उपयोग किया और जन्म मरण करता रहा किन्तु रहा कुछ नही साथमे तो भाव क्या आगे कुछ साथ रहनेकी आशा है ? आशा भी नही और पृथक् भी नही हुआ जाता ।

सम्यक् गुणका विकास यही है कि सभी गुण सम्यक् होने लगे । सम्यक् गुणका विपरीत परिणमन यही है कि सभी गुण स्वभाव विरुद्ध परिणमते रहे ।

कारण परमात्मा निरपेक्ष, स्वत सिद्ध एव परिपूर्ण है अत इस परमतत्त्व की उपासनासे निरपेक्ष, स्वत सिद्ध एव परिपूर्ण विकास प्रकट होता है । परमहित इसी पदमें है, परम आनन्द इसी स्थानमे है, परम वैभव इसीस्थितिमें

है। इस स्थिति याने इस परम विकाशका हेतुभूत जो तत्त्व है वह सनातन निज ही है, निजमे ही है। वाह्य पदार्थमे ज्ञान व आनन्दकी खोजका कष्ट किया है इससे निजका स्वरूप भूल गया।

हे आत्मन्! क्या लाभ पावेगा आखिर वाह्यकी रतिमे हाथ तो कुछ रहेगा ही नही चाहे कितने हो भ्रमण कर लो। अनादिसे जो भूल करते आये उसी भूलको यहा मनुष्य जन्म पाकर भी की जावे तो बताओ मनुष्य जन्म पानेका लाभ क्या हुआ। विषयसुख, मान, अपमान आदि तो कुत्ता, विल्ली रहकर मिलता था, मिल सकता था।

आत्माका कल्याण आत्मानुभवके मार्गमे है। विषय कषाय तो साक्षात् अकल्याण है।

५ दिसम्बर १६५८

आत्मकल्याण सर्वोपरि व्यवसाय है एतदर्थ आध्यात्मिक दृष्टि एव भावना द्वारा निरपेक्ष आत्मस्वभावकी दृष्टि हो जाना पुरुषार्थ है जिसके आधारपर उत्तरोत्तर आत्मविकास होता है।

ससार असार है, वैभव अनित्य एव पुण्यफल है। मनुष्य जन्म पाकर मोक्षमार्गका साधन बना लिया तो जन्म सफल है। एतदर्थ आत्मकल्याणकी रुचिसे आध्यात्मिक ग्रन्थो का स्वाध्याय करते रहना आवश्यक है।

आत्मशान्तिके मार्ग पर चलना अत्यावश्यक है। सॉसारिक वैभवतो नाशयुक्त है। आत्मज्ञानसे ही अपना पूरा पडेगा। एतदर्थ गृहस्थको ४५ मिनट तो स्वाध्याय प्रतिदिन करना ही चाहिये। स्वाध्यायका उत्तम समय सूर्योदयसे १॥ घन्टा पहिलेका है।

आजीविका व आत्मसाधना तो आवश्यक है। शेष अन्य वाते नही। अत जिन कार्योसे, जिन सोसाइटियो से क्षोभ उत्पन्न हो उनमे उदासीनता व उपेक्षा कर लेना चाहिये।

६ दिसम्बर १६५८

आत्मन्! तू पराधीन नही है किन्तु पराधीन वन रहा है। कोई भी

पदार्थ किसी अन्य पदार्थके आधीन हो ही नही सकता है क्योकि प्रत्येक पदार्थों का यही व्रत है कि वह मात्र अपनेमें अपनी अर्थ क्रिया करे। मोही जीव खुद ही परके विषयमे कल्पनाये करके परके समीप ही रहना चाहता है परके प्रति ही गठा रहना चाहता है।

इस पद्धतिसे खूब अनुभव कर ले, परीक्षा करले क्या तू परके आधीन है या स्वतन्त्रतासे ही तू परके आधीन बन रहा है।

निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नही लेश निदान।

७ दिसम्बर १९५८

हे परमात्मन्! तू सुविशुद्ध ब्रह्मस्वरूप है। तेरी उपासना करने वाले महात्मा सतोकी सेवा भी भवजलधितारणमे कारण बन जाती है फिर तो तेरी महिमाका पार ही क्या पाया जा सके। हे अरहंत! तेरी उपासनासे अनेको जन शिवमार्ग पर लगे और उन्होने तेरे द्वारा प्रणीत शासनसे अनुशासित होकर सर्व दुखोसे मुक्ति पाई।

हे जिनेन्द्र! तेरी भक्तिके प्रसादसे विषय कषाय के घोर सकट क्षणमात्रमे दूर हो जाते है।

८ दिसम्बर १९५८

सल्लेखनाके दो अङ्ग है (१) कायसल्लेखना, (२) कषाय सल्लेखना। जिनका वृद्ध शरीर है स्वय अवस्थाके कारण कृश होगया है उन्हे काय सल्लेखना की आवश्यकता तो नही रहती फिर भी उस शरीरकी ऊष्माके अनुसार पथ्य लेना आवश्यक ही है उस आवश्यक व्यवहारको निभाना याने सुपथ्य आहार लेना ही कायसल्लेखनाकी पद्धति बन जाती है। अब रही कषाय सल्लेखनाकी बात सो कषाय सल्लेखना तो सर्वत्र मुख्य है। यौवन अवस्थामे भी कषाय सल्लेखना का पालन होना चाहिये। फिर भी पूर्वमे कषाय सल्लेखना भली भांति नही पल सकी तो वृद्धावस्थामे जब कि यह सुनिश्चित ही है कि जीवना अब अल्प ही हैं क्योकि वृद्धावस्थाके बाद उसी भवकी यौवन अथवा बाल्य अवस्था थोडे ही

आनी है, कपाय सल्लेखना सर्वयत्नसे निभावे। कपाय सल्लेखना करनेके लिये निम्न लिखित वृत्तिकी मुख्यता हो—

(१) अधिकसे अधिक समय तक मौनभाव।

(२) पत्रलेखनका पूर्ण त्याग।

(३) सामाजिक समस्त सस्था सेवाओसे पूर्ण विराम।

(४) अनुकूल प्रतिकूल शारीरिकसेवामें हर्षविषाद प्रकट करनेकी वचन चेष्टा व कायचेष्टाका अभाव।

(५) ॐ नम सिद्धेभ्य, शुद्धचिद्रूपोऽह, ॐ शुद्ध चिदस्मि, णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण इत्यादि मन्त्रोंमे से किन्ही किन्ही मन्त्रोका मनमे अधिकसे अधिक जाप करे। समाधि मरणके लिये ये पञ्चशील वहुत उपयोगी है।

९ दिसम्बर १९५८

प्रतिसमय आयुके नये नये निषेक उदयमे आते हैं और एक समय रह कर झड जाते है, अत हम लोगोका प्रतिसमय तो मरण हो रहा है और प्रति समय नया जीवन हो रहा है। प्रतिसमय मरण हो रहा है और प्रतिसमय समाधिभाव हो तो प्रतिसमय ही समाधिमरण हो रहा है। समाधिमरण एक महोत्सव है, सो समाधिभाव वालेके तो प्रतिसमय महोत्सव हो रहा है।

जब जन्म लेते है तो यह वात हो जाती है कि पूर्व समयके समागमके सव विकल्प छूट जाते हैं तो तुम्हारा भी तो प्रति समय जन्म हो रहा है ना, प्रति-समय जीवन हो रहा है ना, फिर गतसमागमके विकल्प भूलकर इन जीवनोको सफल करो ना।

इस जीवने अव तक विकल्पो द्वारा अपनेको किस किस रूप नही वनाया। कभी तो विकल्पोंमे वनाये हुए रूपके अनुरूप वाह्यरूपक भी वना और कभी वैसा वाह्यरूपक भी न वना। वाह्यरूपकके अनुरूप विकल्पोमे उस रूप वननेकी वात तो वहुधा रही। विरले तत्त्व ज्ञानी जीव ऐसे भी हुए व होते है कि वाह्य-

कर ले व्यापारका काम क्या श्रद्धान, ज्ञान व रमण विना होता है ? भोजन बनानेका काम क्या श्रद्धान, ज्ञान व रमण विना होता है। यह दूसरी बात है कि श्रद्धान व्यापारिक आदि बातोका है, ज्ञान भी उसीका है रमण भी उसको प्रक्रियाये है। किन्तु श्रद्धान, ज्ञान, रमणका जो स्वभाव है उसमे तो अन्तर नही आता।

धर्म कार्यमे चलनेके लिये धर्मका श्रद्धान ज्ञान व रमण हो तो धर्म कार्य हो सकता है। आत्माका धर्म आत्माका स्वभाव है आत्मस्वभाव अभेदरूपमे आत्मा ही है सो आत्माका श्रद्धान, ज्ञान व रमण बिना धर्म कार्य नही होता, कल्याण नही होता आनन्द नही होता।

सर्व व्याप्येकचिद्रूप स्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धिप्रतिष्ठाय ज्ञानानन्दात्मने नम ॥

१२ दिसम्बर १९५८

सामायिकके तीन काल इस लिये हैं कि करीब ६-६ घण्टे बाद आत्मास्वरूपदृष्टि द्वारा विदित सहज आनन्दका अनुभव किया जाय। इसमे शयनके ६ घण्टे अलग कर दिये है क्योकि शयनमे जागृति जैसा बुद्धिपूर्वक कृत्य नही होता। जागृतिके कृत्योका प्रायश्चित्त सामायिक है। शयनमे तो जागृतिके कृत्योका परिणाम निकलता रहता है।

सामायिकके समय जब कि सभी व्यवसायसे निवृत्त होकर बैठा जाता है, खूब २ आत्मीय आनन्द रसका पान करके जीवन सफल बनाना चाहिये और आने वाला मरण सफल बनाना चाहिये। अनादि कालसे कर्मपरवश होकर कैसा कैसा दुरनुभव किया। अब सुभवितव्यतावश हितकर अवसर पाया है तो इस अवसरसे पूरा लाभ उठा लो।

जगतका समागम तो न रहा न रहेगा अथवा नया नया करते आये और न चेते तो नया नया करते रहोगे। पर वस्तुमे ममताका भाव आना बडी विपदा है व बडी विडम्बना है जिसे कि खुशीसे चाह चाह कर वास्तविक

मरण प्रतिपल करते जाना पड रहा है। इस सर्व व्यासङ्गसे तो एक दम सर्व यत्न पूर्वक मुख मोड लेना ही सार है।

असारके प्रसङ्गसे असारता ही मिलेगी। सारकी उपासनासे सार उपलब्ध होगा। सारकी उपासनामे ससारका पार मिलेगा और असारके प्रसङ्गसे हार ही हार मिलेगी। असारभाव परसमयभाव है, सारभाव स्वसमयभाव है। सनातन सार समयतत्त्व है। ॐ नम. समयसाराय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सदगमय।

१३ दिसम्बर १९५८

पवित्रता पुण्य है, अपवित्रता पाप है। जैसे कि पर पदार्थकी अवस्थामे अध्रुव है इसी तरह आत्माके राग द्वेष आदि विभाव भी अध्रुव हैं। इन औपाधिक अध्रुव भावोको आत्मा न समझना, आत्मीय न समझना, स्वभावभात्र न समझना आद्य पवित्रता है जिसकी कि नीव पर उत्तरोत्तर पवित्रताका विकास होता है।

पवित्रताका पूर्ण विकास कार्यपरमात्मतत्त्व है। पवित्रताके विकासका आधार कारण परमात्मतत्त्व है। कारण परमात्मतत्त्व सहज चैतन्यशक्ति है। शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम्।

कामविकार न जगे और दूसरोका अनिष्ट न विचारे ये दो बाते हो जावें यही पवित्रता काफी है उद्धारके मार्गमे लगने को।

१४ दिसम्बर १९५८

जिसका हृदय इतना विशुद्ध है कि प्रतिकूल चलने वालेको बदला लेनेका भाव न करे याने रच भी उसकी हानि न विचारे वह हृदय धन्य है। ऐसी बात बने इसके उपाय इस प्रकार हो सकती है:—

(१) विरोधीके मनमे जिस प्रकारकी हानिके प्रसगको पाकर विरोध हुआ हो उससे भी अधिक लाभ करा देवे।

(२) उस विरोधी व्यक्तिको किसी प्रकारकी हानिका उपक्रम न करे।

(३) उस विरोधी व्यक्तिके सम्बन्धमे निन्दात्मक शब्द किसी भी प्रकारसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षमे कभी न कहे ।

विरोधका भाव रखनेसे उन्नति कभी नही होती क्योकि विरोधका भाव रखना स्वय अवनति है । अवनतिका परिणाम लेकर चलने वालेकी उन्नतिकी आशा कैसे की जा सकती है ।

१५ दिसम्बर १९५८

अन्तरङ्ग त्यागकी इतनी पराकाष्ठा हो कि किसी प्रकारके त्याग करनेका विकल्प भी न सुहावे वह है परम उदासीनता । किन्तु, ऐसा होनेके लिए त्यागमय जीवन होना चाहिये । अन्यथा इस प्रयोगका दुरुपयोग भी हो सकता है ।

समाधिमरणके प्रसगमे त्यागकी हद हो जाया करती है उस प्रसगमे मात्र सहज ज्ञायकभावकी दृढ दृष्टि हो तो वह त्यागकी उत्कृष्ट सीमा हो । इस सीमा मे प्रवृत्ति कोई नही रहती इसी कारण बाह्यत्यागकी भी उत्कृष्ट सीमा हो जाती है ।

१६ दिसम्बर १९५८

आत्मोद्धरणका अर्थ आत्माको उत्कृष्ट पदमे धर देना । आत्माका उत्कृष्ट पद है निराकुलअवस्था । निराकुलता होती है रागके अभावमे । रागका अभाव होता है निजको निज परको पर जाननेकी दृढ दृष्टि से । अत आत्मोद्धरणका मूल उपाय भेदविज्ञान ही है भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन, अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।

बधना जीव और कर्मकी सधि है बधनेकी क्रिया का मूलभूत अथवा परिणामस्वरूप भाव अशुद्धनिश्चयनयमे दोनोके पृथक् पृथक् स्वलक्षण है और इन परिणामोका स्रोत रूप स्वभाव परमशुद्धनिश्चयनयमे दोनोके नियतस्वलक्षण है । नियत स्वलक्षणका विभाग पाड देनेवाली प्रज्ञासे बन्धका छेद होता है । इसी प्रज्ञाके बलसे केवल आत्माका ग्रहण भी हो जाता है अत केवल आत्माका इस प्रकारके प्रयत्नसे ग्रहण कर लेना चाहिए ।

१७ दिसम्बर १९५८

परिचयमे या प्रसगमे आये हुए मानवोको खुश रखनेका भाव बनाना भी एक विडम्बना बन जाती है। इससे स्वदया तो नष्ट कर दी जाती है और परविषयक विकल्प बना लिया जाता हे।

सहज वृत्तिसे अन्य मानव तृप्त रहे, सुखी रहे यह तो अच्छी बात है किन्तु दूसरे मुझपर खुश रहे यह विभाव विडम्बना ही है। इसमे अपना घातकर लिया गया।

परमाणुमात्र भी पर द्रव्य तेरा कुछ नही। अत्यन्त भिन्न समस्त अन्य पदार्थ हे। वे सब तो अपनी परिणतिसे परिणम परिणम कर ईमानदारीसे अपनी यात्रा कर रहे हैं। तू उनकी ओर आकर्षित होकर ईमानदारीमे धब्बा लगा रहा है। बनता कुछ नही है जैसा कि परकी ओर आकर्षित होकर चाहा जावे, व्यर्थ का क्लेश ही हाथ लगा रक्खा है।

१८ दिसम्बर १९५८

आज उपवास सानन्द हो रहा है उपवासकी सफलता तभी है जब उपयोग आत्माके पास ही बसे। उपवासकी प्रसिद्धि अनशन मे हो गई क्योकि अनशनकी अवस्थामे उपवासकी सिद्धि होती है। शब्दार्थमे तो उपवासका अर्थ है उपयोगका आत्माके समीप बसना और अनशनका अर्थ हे आहार न करना।

व्यवहारमे अनशन व उपवास दोनो हो तो उसे उपवास कहना चाहिए। लोकोपचारमे आहारका त्याग हो उसे उपवास कह दिया जाता है।

हे आत्मन्! तू अनादिसे है देख, सोच कितनी परिणतिया तेरी बीत चुकी अब यह अवसर विवेककी योग्यताका प्राप्त किया है इसे यो ही न खो देना। सर्व विकल्प तोड कर एक शाश्वत आत्मस्वरूपको आत्मारूपसे ग्रहण करके सर्व दुःखोसे मुक्त होनेका उपाय बना ले।

१९ दिसम्बर १९५८

कल से २० दिसम्बर तक इस प्रकार से अहोरात्र चर्चाका ख्याल रखू गा

प्रात ४ से ४।	जागरण व आत्मकीर्तन	
४।—५	आध्यात्मिक स्वाध्याय	
५—६।	सामाजिक व प्रतिक्रमण	
६।—७	पर्यटन	
७—७॥	आसनादि	
७॥—८।	देवदर्शन, भजनश्रवण	
८।—९	प्रवचन, अन्तमे आत्मकीर्तन	} १ घन्टा
९—९।	वार्ता	
९।—१०	आध्यात्मिक पा०	
१०—११	शुद्धि, चर्या, विश्राम	
११—११॥	डायरी या पत्र लेखन	
११॥—१२॥	सामायिक	
१२॥—२	लेखन	
२—२॥	पाठन	} १ घन्टा
२॥—३	चर्चासमाधान	
३—३॥	शास्त्रसभा	
३॥—४।	देवविनती	
४।—५	लेखन	
५—५॥	पर्यटन सेवा	
५॥—६॥	सामायिक	
६॥—७॥	करणानयोगादि स्वाध्याय	
७॥—८।	भजनादि श्रवण	
८।—९	प्रवचन अन्तमे आत्मकीर्तन	} १ घन्टा
९—९।	वार्ता	
९।—४	विश्राम, शयन	

२० दिसम्बर १६५८

एक शुद्ध चैतन्यमात्रभावमे हूं इससे अतिरिक्त अन्य सब भाव मै नही हूं, वे अन्य भाव क्या हो सकते है—(१) भिन्नक्षेत्रस्थ समस्त अजीव पदार्थ (८) अन्य सब जीव पदार्थ, (२) अवधारित शरीर, (३) बद्ध कर्म, (५) रागादि भाव, मतिज्ञानादिभाव, (७) केवल ज्ञानादि भाव।

ये सब अन्य भाव क्यो है—

अन्यभाव	कारण
भिन्नक्षेत्रस्थ दृश्यमान सर्व अजीव पदार्थ	स्पष्ट पृथक्, स्थूल, विपरीतस्वभाव भिन्नसत्ताक, औपाधिक, परिणमन, नैमित्तिक अपूर्णपरिणामन, क्षणवर्ती परिणमन।
अवधारित शरीर	स्थूल, विपरीतस्वभाव, भिन्नसत्ताक, औपाधिक परिणमन, नैमित्तिक अपूर्णपरिणामन, क्षणवर्ती परिणमन।
बद्धकर्म	विपरीत स्वभाव, भिन्नसत्ताक, औपाधिक परिणमन नैमित्तिक अपूर्ण-परिणम, क्षणवर्ती परिणामन।
अन्य सब परिचितजीव पदार्थ	भिन्नसत्ताक, औपाधिक परिगमन, नैमित्तिक, अपूर्ण परिणामन, क्षणवर्ती परिणामन।
रागादि भाव	औपाधिक परिणमन, नैमित्तिक, अपूर्णपरिणामन, क्षणवर्ती, परिणामन
मतिज्ञानादिभाव	नैमित्तिक, अपूर्ण परिणमन, क्षणवर्ती, परिणमन
केवलज्ञानादि भाव	क्षणवर्ती परिणामन (सदृश अनन्त परिणामन)

॥ ॐ सर्वविशुद्धचिन्मात्रभावोऽस्मि ॥

ॐ शुद्धम् चिदस्मि, ॐ शुद्धम् चिदस्मि, ॐ शुद्धम् चिदस्मि।

२१ दिसम्बर १६५८

शान्तिका उपाय पदार्थोंका सम्यक् अवबोध है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्तावाला है। अन्य पदार्थोंका निमित्त पाकर अन्य परिणाम जाता है, परन्तु जो परिणमता है वह मात्र अपने सत्वमे ही रहता हुआ परिणामता है और जो

नोट— कृपया इस पेज को पेज न० २७५ के बाद पढने का कष्ट करें।

तू चेतन है, स्वय प्रभु है। प्रभुताका उपयोग यह कर रहा है कि बाह्य वस्तुओंको अपना मान-मान विकल्पके नृत्य कर रहा है। अपनी प्रभुताका सदुपयोगकर अपना ऐश्वर्य स्वय सम्हाल।

तू एक चेतन द्रव्य है और प्रतिसमय परिणमता रहता है इतनी ही तो तेरी बात है और क्या रखा तेरा अन्यत्र। नखरे किस रहस्य पर करता है। सीधे सादे सच्चे गरीब बनकर अथवा निज ऐश्वर्यके सदुपयोग पूर्वक सच्चे अमीर बनकर इस दुर्लभ अवसर को सफल कर ले।

केवल चर्चासे केवल शब्दोंसे क्या पूरा पडेगा। अपनी सहज लीलासे सहज स्वभावका अनुभव कर।

शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम्।

२६ दिसम्बर १९५८

ज्ञान भी धनकी तरह निरर्थक है यदि आत्मरुचि नही है तो। "इदमम" ने ही सर्वनाश कर दिया है। बाह्य पदार्थके समागमसे मिलता क्या है। एक भी अंश, कुछ भी बात दूसरेकी दूसरेमें जाता नही फिर ममत्वभाव विडम्बना नही तो और क्या है कितना काल है उसके समक्ष १०-२० वर्ष क्या है। कितना क्षेत्र है उसके समक्ष २-४ हजार मील क्या है। मर कर कहीं अन्य क्षेत्रोंमें पहुंच गये अथवा यहींके यहीं पैदा हो गये तो पूर्व के वैभवका क्या सम्बन्ध रहा।

पुण्यफल में राजी होना बड़ी बेवकूफी है। संसार में सार क्या है। सारे वैभव भी आत्माके रंच हित करनेमें समर्थ नहीं है। सब कुछ निजसे निज [illegible] ही रहते हैं। [illegible], सुखमें ही कर लोगे नहीं तो कर पावे। [illegible] सीमा है पर स्वाभाविक है, अटल है। वस्तु स्वरूपकी श्रद्धामें जो शान्ति है, वह अनुपम है।

सामायिकमें विषाद क्या करना। विषाद होता है तो निर्विकल्पताके [illegible] विषाद [illegible] न हो सो। निर्विकल्प, [illegible]

निमित्त होते है वे भी मात्र अपने अपने सत्त्वमे अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते हुए उपस्थित हैं। अन्य किसीकी परिणतिमे अन्य कोई कभी नही परिणम सकता। फिर कोई किसी अन्यका स्वामी कैसे हो सकता है। इस सम्यक् अववोधके वल पर मोह भाव नही रहता। मोहके न रहनेसे अन्तरङ्गमे राग द्वेष भी नही रहता।

राग द्वेष जितना नही है उतनी अनाकुलताका अनुभव है। जिस क्षण राग द्वेष समूल न रहेंगे उस क्षण पूर्ण अनाकुलता हो लेगी। यही सत्य लक्ष्य है। इसकी साधना ही विवेकीका परम कर्तव्य है। इस व्यवसायसे ही मनुष्य जन्मकी सफलता है।

२२ दिसम्बर १६५८

समस्त विश्व ३४३ घन राजु प्रमाण है। उसमे यह परिचित क्षेत्र है कितना अति विशाल समुद्रमे एक बूंदको माफिक भी नही। फिर न कुछ स्थान की वात पर गर्व क्या। समस्त काल अनन्त काल है जो बीता वह भी अनन्त काल है और जो वीतेगा बीतता रहेगा वह भी अनन्त काल है। उस अनन्त कालमे १०० वर्ष क्या है संख्यामे जो उत्कृष्ट संख्या हो उतने वर्षोमे १ सेकिण्ड के माफिक नही एक सेकिण्ड क्या कितने ही सूक्ष्म कालके माफिक नही। फिर न कुछ समयकी वात पर गर्व क्या। समस्त जीव अनन्तानन्त है उनके सामने हजार लाख भी आदमी क्या। कुछ भी नही। फिर न कुछ सख्यका फिर भी अत्यन्त पर, मनुष्योंके परिचय पर गर्व क्या।

यहा सर्व कुछ तेरे लिये न कुछ है। तेरा कोई शरण नही, तेरा कोई सम्बन्धी नही। जैसा तेरा संस्कार जैसा तेरा परिणाम होगा वैसा ही तू अपना पर्याय पावेगा। अपनेको ही देख और अपनी गर्व पर्यायोमे जाने वाला है तो भी किसी भी पर्याय रूप न मान कर शुद्ध चैतन्यमात्र अपनी प्रतीति कर।

पुण्य पाप फल माहि हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय उपज विनसे फिर थाई॥

लाख बातकी वात यही निश्चय उर लावो ।
तोड सकल जग दद फद निज अतम घ्यावो ॥
ॐ शुद्ध चिदस्मि । शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।
ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ । ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॥

२३ दिसम्बर १९५८

हे आत्मन् ! बता क्या काम करना रह गया है यहाँ ? क्या कोई मिट्टी का ढेर लगाकर चलना है यहाँसे ? क्या कोई झूठे नाम लगा लगा लिखकर जाना है यहाँसे ! प्रिय आत्मन् पर्यायबुद्धि न बन । पर्याय बुद्धताका काम बडा मँहगा है इसका फल ह अनन्त क्लेश ।

जब कोई भी परिणति दूसरे क्षण नही रहती तब नष्ट हो जाने वाली चीज पर अहङ्कार क्यो ? नष्ट हो जाने वाली चीज पर अहङ्कार करना पागलपन है । जहा सभी प्राय इस तरह के पागल हो वहाँ इसको पागलपन मानने वाला कोई न मिले तो इससे क्या ! तुझे तो विवेकी बनना चाहिये ।

देख ! देख ! अपनी शुद्ध अनुभूतिका आनन्द देख । वाह्य पदार्थके उपयोगसे होनेवाला सुख अथवा दु ख रूपमे उपस्थित आनन्दविकार तुझे क्या शान्ति देगा ।

आज गिरिराज श्री सम्मेदशिखर जी पर सर्व टोकोकी वन्दना की । इस पावन भूमिपर पहुंचकर अनेक मानसिक परिचयके स्मरण हुए । बडे २ साम्राज्य वैभव छोडकर अनन्त तीर्थङ्करोने अनन्त मुनिराजोने इस भूमि पर निर्विकल्प समाधि पाई, शाश्वत आनन्दका लाभ लिया, वे सदा के लिये शुद्ध अविकार हो गये ।

ॐ ह्रीं श्री अनन्त परमसिद्धेभ्यो नम ।

२४ दिसम्बर १९५८

मनुष्य भाव एक अतिदुर्लभ भाव है । मनुष्य हुए और वस्तु स्वरूपको ज्ञानी हुए तो भाव मात्र व्यवहारमे तो यह कर्तव्य है कि जन सम्पर्क न बढाकर

अधिकसे अधिक मौनभावसे रहे व अन्तरङ्गमे यह कर्तव्य है कि सनातन सहज सिद्ध ज्ञायस्वभाव को उपासनामे उपयोग रहे।

समय तो पर्वत पतित नदीके वेगकी तरह बीता जा रहा है, बाह्योपयोगमे ही समय बिता दिया तो निमित्त नैमित्तकभावकी ड्यूटीके परिणामसे बाहर तो नही जा सकते, असावधानी याने प्रमादवश जो कर्मबन्ध हो, जायगा उसका तो विपाक भोगना ही पडेगा।

इस अवसरका इस चेतनका लाभ उठा लो। अन्यथा जो दुर्दशा अनादिसे होती आई थी उसी दुर्दशामे भेट होगी।

हे आत्मन्! अब यहा लौकिक आराम मत तको। मनुष्योकी तुम्हारे प्रतिकूल प्रवृत्तिया होती है तो उनके ज्ञाता रह जावो। किसी के द्वारा गाली गलोजके या अन्य प्रकारके उपसर्ग आते हो तो वहा भी वस्तुस्वातन्त्र्यकी प्रतीतिका प्रयोग करो। सङ्कट आते है तो उन्हे पूर्वकृतभावका ऋण समझकर अदा कर दो याने सहर्ष समतामे सह लो, वहाँ भी अनाकुल रहो। आडम्बर सेवा, रहन सहनके आरम्भ सभीसे विरक्त रहो।

यदि लोको द्वारा आरामकी चाहकी या उनके पहुचाये हुए आराममे विशेष प्रवृत्तिकी तो इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि तुमने उपदेश, त्याग की चेष्टावोको बेच दिया। क्योकि लोग इसीसे तो प्रभावित होकर आराम पहुचाते है।

२५ दिसम्बर १९५८

हे आत्मन् तू एक जीवसाधारण द्रव्य है जैसे सब है वैसा तू है। तू अमूर्त एक चैतन्य स्वरूप वस्तु है। तेरा कुछ नाम नही। तू विभिन्न शक्लोमे पेश होता रहा है। लोकोने आजकल जिसका नाम रख रखा है वह कुछ और है तू कुछ और है। तेरा कोई नाम नही। तू सच्चिदानन्द स्वरूप है, रूपरसगन्धस्पर्शरहित है, तेरी कोई जाति कुल नही तेरा कोई देश नगर नही। तेरा यहा कुछ भी तो नही है।

है अन्य सर्वकी आशा छोडो। खुद ही आनन्दका पुञ्ज है जितना अधिक इस आनन्द पुञ्जका आश्रय करो उतना ही सत्य आनन्दका अनुभव करो। आनन्द का अन्य पदार्थमे कोई उपाय न मिलेगा। पर पदार्थकी ओर जितना भटक जावोगे उतना ही लौटना पडेगा। स्वच्छ अगमे जितना कीचड लपेटा जायगा उतना ही तो घटाया जाकर स्वच्छता पाई जावेगी।

२७ दिसम्बर १९५८

परमसत्य व्यवहारसे परे है। परमसत्यके लक्ष्यसे किया जाने वाला व्यवहार भी सत्य कहा जाता है, किन्तु इस सत्यमे भी स्थापिता तो नही है। कुछ भी कल्पनायेकी जावे उनसे गुजारा तो नही होगा। आनन्दमय गुजारा तो ज्ञानके सहज परिणमनसे होगा

हे प्रभो अरहत! तेरा विशुद्ध स्वरूप जो भव्य ध्याते है उन्हे आनन्दमार्ग सुगमतासे उपलब्ध हो जाता है। हे देव तेरी निर्मलता उत्कृष्ट है, सहज है, पूर्ण है। आत्माकी यात्रा जहा पूर्ण होती है जिसके बाद भटकना नही है वही यह (स्थान) तेरा है।

जिनकी धर्ममे रुचि है उनकी हे देव तेरेमे अद्भुत व विलक्षण भक्ति होती है। जो भव्य तेरी आराधना रूप छायामे आराम करता है वह पूर्वसस्कृत कल्मष पङ्कको धो डालता है। सत्य है, निष्कलङ्ककी आराधनासे निष्कलङ्कता मिलती है और सकलङ्ककी आराधनासे सकलङ्कता मिलती है।

कोई प्रशसा कर दे तो करेगा क्या यही तो कहेगा कि इन्होने ऐसा कार्य किया है। कर्तव्यकी हो तो बात लपेटेगा हा तो कोई प्रशसा कर दो तो इससे आत्मामे लाभकी बात क्या आ जाती। व्यर्थ ही जीव मानी हुई प्रशसाके शब्द सुन कर राजी हो जाता है। भेदविज्ञानका प्रबल प्रयोग करके पहिली व मौलिक इस आपत्तिकी रस्सी काटो तब मोक्षमार्गका विहार बनेगा।

२८ दिसम्बर १९५८

आज साय आकर बडाकर ठहरे। स्थान अति रमणीक है, तपोभूमि

प्रकट होती है पासमे वहने वाली नदीका नाम वडाकर है। कुछ भाइयोका कहना है कि यह ऋजुकूला नदी है इसके तट पर महावीर स्वामीने तपस्याकी व केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह वात असभव तो नही जचती।

पहिले महापुरुषो ने महावैभव छोड नैर्ग्रन्थ्य व्रतका पालन किया। ऐसे महापुरुष अनेक हुए। उन्हे वैभव छोडनेमे वैभवकी ओरसे कुछ नही सोचना पडता था। ऐसे दृश्य अनेको अनेकत्र देखनेमे आते थे उस समयके नर नारियोको। धर्मकी ओर कैसी लगन थी और देखने वालोको कितनी जल्दी हो जाती थी। अद्‌भुत प्रभावना धर्मकी साक्षात् होती थी।

आज और कुछ नही वने तो हे आत्मन् भेदविज्ञानकी प्रवल साधना द्वारा अन्त अपने हित मार्ग पर तो चलो। वाह्य पदार्थोके सोचनेमे क्या पूरा पडेगा।

मैं ज्ञानमात्र आत्मा सर्व पर पदार्थोंसे प्रत्यक् एवं आत्मीय भेदोंसे प्रत्यता ज्ञायमान स्वय शरण हू।

ॐ, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम्।

पुण्यफलमे हर्ष करना, राजी होना वडा अन्धकार है। पुण्य तो नष्ट होगा ही। कैसे नष्ट होगा या तो पापफलमे दवुच कर नष्ट होगा या मुक्ति प्राप्त होते हुए नष्ट होगा। प्रिय ! ऐसा उपाय करो कि मुक्ति प्राप्त होते हुए ही नष्ट होवे।

२६ दिसम्वर १९५८

जितनी अशान्ति है वह खुदकी कल्पनासे उत्पन्नकी हुई है अतः जव तक कल्पनावोकी शान्ति नही होती तव तक अशान्तिकी भी शान्ति नही हो सकती।

हे आत्मन् ! जय जय ॐ अनामक शुद्ध चिदस्मि हे आत्मन् अपनेको भा- नामरहित शुद्ध चैतन्य हू। मेरी सत्ता व सव जीवोकी सत्ता समान है। सो यदि कोई नाम भी रखा जावे तो वही नाम सवका होता है। जव एकसा ही नाम सवका है तो उस नाममें मेरी ही आन है यह कैसे हो जावेगी। वस्तुतः

तो नाम भी कोई नही। इस मुझके शक्ति भेद करके परिणमन भेद करके जो कुछ भी शब्दोमे सोचा जावे वह विशेषण है। आत्मा भी एक विशेषण है जीव, ब्रह्म, चेतन आदि सब विशेषण हे। ये शब्द मेरी विशेषता मे कहने वाले है। मेरा खुदका नाम क्या है जो विशेषण न होकर विशेष्य हो सो कुछ भी

मैं निनमि हू फिर जगतमे मैं क्या कर जाऊगा कुछभी तो नही। किसी भी नामसे मेरा क्या परिचय पाया जाएगा ? कुछ भी तो नही। केवल जैसा परिणमन करूगा वही व उसीका फल पाऊगा।

जगतमे मैं एकाकी हू, मेरा अन्य कोई शरण नही। मैं ही यदि ठीक चलू मैं ही अपना शरण बन जाता हूँ। मैं यदि उन्मार्गसे चलू तो मैं अपने आपका बाधक बन जाता हूँ। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

३० दिसम्बर १९५८

निरपेक्ष, सहजसिद्ध चैतन्यस्वभावसे अपरिचित जीवोका बडेसे बडा विज्ञानी ी मिथ्याज्ञानमे गर्भित है और सहजसिद्ध परमात्मासे परिचित जीवोका वपरविषयक सभी प्रकारका ज्ञान सम्यग्ज्ञानका उल्लङ्घन नही करता। सम्य-ज्ञानीके विकल्प स्याद्वादकलासे कलित हैं, मिथ्याज्ञानीकी स्याद्वादचर्चाभी विकल्पोमे गर्भित है।

आत्माका ज्ञानतो सबको है किन्तु किसीको किसी रूपमे व किसीको किसी रूपमे। आत्माका कैवल्यस्वरूप क्या है इसका समाधान व इसकी दृष्टि होकर इसी रूपमे अपने आपका परिचय पाना कैवल्यविकाशकी सुभवितव्यताकी निशानी है।

आत्मविजयी व जगद्विजयी दोनोका एक भाव है। जगत्के पदार्थोको अपने अधिकारमे लेकर जगद्विजयी नही बना जाता, किन्तु जगत्का यथार्थ स्वरूप जानकर किसी वस्तुकी आशा न करनेसे जगद्विजयी हुआ (बना) जाता है यही प्रक्रिया आत्मविजयी होनेकी है। आत्माके विजयमे जगत्का विजय है,

जगत्की दृष्टिमे न तो आत्माका विजय है और न जगत्का विजय है।

३१ दिसम्बर १९५८

आज सन् १९५८ का अन्तिम दिन है। यो तो वर्ष इस भवके ४३ वर्ष २ गुजर चुके। आत्मपरिणाममे शान्ति कैसी आई इसका उत्तर विलक्षण होगा। जीवनमे शान्ति व अशान्ति दोनो परिवर्तन सहित चली जिससे यह सिद्ध होता है कि मौलिक योग्यता सुदृढ नही हुई अन्यथा परिवर्तनका क्या काम। जो उन्नति हुई उसके बाद उन्नति ही होना चाहिए ऐसी वर्तना जब होती है उसे तो कहते है सिस्टिनेटिक कन्डक्ट किन्तु जहा इस पद्धतिका भग हो जाता है उसे कहते है एक्सीडेन्टल करेक्ट।

हे आत्मन्! तेरे सिवाय अन्य यावन्मात्र पदार्थ है उनसे तू क्या हितकी आशा करता है? सभी पदार्थ मात्र अपनी अपनी अर्थक्रियाही रत हैं। किसी भी पदार्थसे तुझमे कुछ लाभ हो ही नही सकता। तेरा सहाय कौन?

सारभूत कर्तव्य तो मुख्यतया इस प्रकार है इनमे भी यह क्रम है कि पूर्व पूर्वके कर्तव्य न बन सके तो उत्तरके तो करना ही चाहिए—

(१) सहजशुद्ध समयसार की दृष्टि
(२) परमात्माकी भक्ति
(३) अध्यात्म मनन
(४) अध्यात्म अध्ययन
(५) सैद्धान्तिक अध्ययन
(६) गुरुनास्ति
(७) सत्सग निवास

विज्ञान सेट

पुस्तक	मूल्य
धर्मबोध पूर्वार्द्ध	।)॥
धर्मबोध उत्तरार्द्ध	॥)
जीवस्थान चर्चा	१॥)
गुणस्थान दर्पण	१)
समस्थान सूत्र १ स्कध	२)
" " २ स्कध	१॥)
" " ३ स्कध	१॥)
" " ४ स्कध	१॥)
" " ५ स्कध	१॥)
" " ६ स्कध	१॥)
" " ७ स्कध	१॥)

समस्थानसूत्रविषयदर्पण ॥=)

पुस्तक	मूल्य
द्रव्य दृष्ट प्रकाश	।)
सिद्धान्तशब्दार्णव सूची	।=)
दृष्टि	।-)
जीव सदर्शन	≡)
सुबोध पत्रावलि	॥=)
तत्त्वार्थदश प्रथम प्रथम सूत्र प्रवचन	१)

यह पुरा सेट लेने पर =) प्रति रु० कमीशन

अध्यात्म ग्रन्थ सेट, अध्यात्म प्रवचन सेट, विज्ञान सेट व पावन सेट चारो सेट लेने पर ≡) प्रति रुपया कमीशन

पावन सेट

पुस्तक	मूल्य
श्री समयसार स० टीका स०	१॥)
श्री प्रवचनसार स० टीका स०	१।)
त्रैलोक्य तिलक विधान पूर्वार्द्ध	४)
त्रैलोक्य तिलक विधान उत्तरार्द्ध	५)
कृतिकर्म (भक्ति,क्रिया,प्रति० स्तोत्र)	३)
सरल जैन रापायरा प्रथम भाग	२)
सूक्ति म ह	।=)
श्रावक प्र िकमरा	=)
मोक्ष सिल	=)
जीवन झांकी	-)

यह सेट लेने पर =) प्रति रु० कमीशन

विद्यार्थी सेट

पुस्तक	मूल्य
धर्मबोध पूर्वार्द्ध	।)॥
धर्मबोध उत्तरार्द्ध	॥)
छहढ़ाला	॥=)
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	॥=)
द्रव्य सग्रह	।=)
मोक्ष शास्त्र	२)
क्षत्र चूडामणि	२॥)
नाममाला	॥)
संस्कृतशिक्षा प्रथम भाग	।=)
" " द्वितीय भाग	॥-)
" " तृतीय भाग	॥=)
" " चतुर्थ भाग	॥)

यह सेट लेने पर -) प्रति रु० कमीशन होगा